अच्छी-अच्छी बातें

शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी

अच्छी-अच्छी बातें

(2)

आयतुल्लाह

शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी

ट्रांस्लेशन

अब्बास असग़र शबरेज़

किताब : अच्छी-अच्छी बातें (2)
राइटर : शहीद मुर्तज़ा मुतह्हरी
ट्रांस्लेटर : अब्बास असग़र शबरेज़
पहला प्रिन्ट : जून 2017
तादाद : 2000
पब्लिशर : ताहा फ़ाउंडेशन, लखनऊ
प्रेस : न्यु लाइन प्रॉसेस, दिल्ली
क़ीमत : 25 रुपए

+91-81277 93428
99566 20017

Contents

(1)

इमामों की ज़िन्दगियों में फ़र्क़

इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] 17 रबीउल अव्वल सन् 83 हिजरी के दिन पैदा हुए थे और तब अब्दुल मलिक बिन मरवान उमवी की हुकूमत थी। आपकी शहादत सन् 148 हिजरी में अबू जाफ़र मन्सूर अब्बासी की हुकूमत में हुई थी। इमाम सादिक़[अ०] जब दुनिया में आए तो वह एक बहुत तेज़ मगर ज़ालिम ख़लीफ़ा का वक़्त था। जब शहीद हुए तब भी एक बहुत मज़बूत और ज़ालिम ख़लीफ़ा की हुकूमत थी। इन दोनों ख़लीफ़ाओं के बीच का जो वक़्त है वह एक ऐसा वक़्त है जब बनी उमय्या की हुकूमत ख़त्म हो रही थी और अब्बासी ख़ानदान की हुकूमत शुरू होने वाली थी।

जैसा कि उसूले काफ़ी, बिहारूल अन्वार और दूसरी किताबों में लिखा है, इमाम की माँ का नाम उम्मे फ़रवा है जो क़ासिम बिन मोहम्मद बिन अबी बक्र की बेटी थीं।

गोल्डन पीरियड

इमाम सादिक़[अ०] को 'शेख़ुल अइम्मा' कहा जाता है यानी इमामों में सबसे लम्बी उम्र इमाम सादिक़ को ही मिली है। जब आपकी शहादत हुई उस वक़्त आपकी उम्र 65 साल थी।

एक तरफ़ से इमाम की ज़रा लम्बी उम्र और दूसरी तरफ़ से बनी उमय्या व बनी अब्बास के बीच हुकूमत के लिए छीना-झपटी से इमाम को बड़ा अच्छा चांस मिल गया था बल्कि यूँ कहा जाए कि जैसे एक गोल्डन पीरियड हाथ आ गया था जिससे इमाम ने भरपूर फ़ाएदा उठाते हुए इल्म (Knowledge) के दरवाज़े खोल दिए थे। चारों ओर से लोग इमाम सादिक़[अ०] से सीखने, पढ़ने और इल्म लेने के लिए आ रहे थे बल्कि यूँ कहिए कि इमाम ने एक बहुत बड़ी युनिवर्सिटी खोल दी थी। इमाम अपने इस काम से जितना हो सकता हो उतना दीन को फैलाना और इस्लामी टीचिंग्स को लोगों तक पहुँचाना चाहते थे। इमाम ने पढ़ने-पढ़ाने का इतना बड़ा सिस्टम बना दिया था कि उस वक़्त से लेकर अभी तक शिया-ग़ैर शिया सारे उलमा व स्कॉलर्स जब भी अपनी किताबों में इमाम का नाम लिखते हैं तो उस युनिवर्सिटी के साथ लिखते हैं जहाँ से इल्म का सूरज सारी दुनिया पर चमक रहा था। जब भी इमाम का नाम लिया जाता है तो इमाम के उन शार्गिदों के साथ जिनको ख़ुद इमाम ने अपने हाथों से तैयार किया था। इतना ही नहीं बल्कि जब भी इमाम का नाम आता है तो दीनदारी, तक़वा, ईमान और इबादत का नाम भी अपने आप इमाम के नाम के साथ जुड़ जाता है।

मशहूर शिया आलिम शेख़ मुफ़ीद लिखते हैंः

> इमाम सादिक़[अ०] से इतना ज़्यादा इल्म दुनिया को मिला है कि उससे पड़ने वाला असर दुनिया के कोने-कोने तक पहुँचा है। जितनी

> हदीसें इमाम सादिक़[अ०] से नक़ल हुई हैं उतनी अहलेबैत[अ०] में से किसी से भी नक़ल नहीं हुई हैं। हदीसें लिखने वालों ने इमाम के शार्गिदों की तादाद 4,000 लिखी है जिनमें हर अक़ीदे, हर वर्ग और हर सोच के लोग पाए जाए थे।

मशहूर अहले सुन्नत आलिम मोहम्मद बिन अब्दुल करीम शेहरिस्तानी अपनी मशहूर किताब अल-मिलल वन नहल में इमाम सादिक़[अ०] के बारे में लिखते हैंः

> उनके पास जहाँ इल्म का ज़बरदस्त ख़ज़ाना था वहीं उनके अन्दर तक़वा (Piousness) भी बहुत ज़्यादा था। इसके बाद लिखते हैं कि इमाम बहुत सालों तक मदीने में रहते रहे जहाँ वह अपने शार्गिदों और अपने शियों को इस्लाम के बारे में समझाया करते थे। कुछ दिन ईराक़ में भी रहे लेकिन अपनी पूरी ज़िंदगी में कभी भी उन्हें हुकूमत, माल-दौलत और किसी पोस्ट की चाहत नहीं हुई। इमाम का काम बस पढ़ना-पढ़ाना और अपने शार्गिद तैयार करना था।

आख़िर में शेहरिस्तानी लिखते हैंः

> इमाम को हुकूमत या माल-दौलत की चाह बिल्कुल नहीं थी क्योंकि जो इल्म के समुन्द्र में उतर जाता है उसे फिर इस दुनिया में कोई मज़ा नहीं आता और जो हक़ीक़त (Reality) की सब से ऊँची चोटी पर पहुँच जाता है उसे गहरी-गहरी खाईयों से ज़रा सा भी डर नहीं लगता।

इस्लाम के हर फ़िरक़े के उलमा ने इमाम सादिक़[अ०] की तारीफ़ की है और बहुत कुछ लिखा है लेकिन हमें इस बारे में बात नहीं करना है। यहाँ तो बस यह इशारा

करना था कि इमाम सादिक़[अ०] को हर फ़िरक़ा पहचानता और मानता है। तभी तो आज भी जब इमाम का नाम आता है तो उस युनिवर्सिटी, उन शार्गिदों और उन किताबों के साथ आता है जिनका असर आज तक बाक़ी है। आज हर शिया हौज़ा (Islamic Seminary) की जड़ें इमाम सादिक़[अ०] की युनिवर्सिटी से ही जाकर मिलती हैं।

इमाम सादिक़[अ0] की ज़िंदगी का फ़र्क़

इस चैप्टर में हम देखेंगे कि जो तरीक़ा और जो ज़िंदगी इमाम सादिक़[अ०] ने अपने वक़्त में अपने लिए चुनी थी क्या वह उस ज़िंदगी से अलग थी जो दूसरे इमामों ने अपने-अपने वक़्त में बिताई थी? क्या इमाम सादिक़[अ०] और दूसरे इमामों की ज़िंदगियों में फ़र्क़ था?

14 मासूमों[अ0] की अलग-अलग ज़िंदगियों का फ़ाएदा

हम शिया 12 इमामों को मानते हैं और सभी को रसूले इस्लाम[स०] का जानशीन और असली इस्लाम को बताने व फैलाने वाला मानते हैं। साथ ही इन सब की ज़बान से निकली हुई हर बात को रसूले इस्लाम[स०] की बात और उनके तौर-तरीक़ों को रसूल का तौर-तरीक़ा समझते हैं जिसका एक बहुत बड़ा फ़ाएदा हमें यह मिलता है कि हम इस्लामी शरीअत और अक़ाएद (Islamic Law & Beliefs) को दूसरों से कहीं बहतर तौर पर समझ पाते हैं। या यूँ कहा जाए कि हमारे ग्यारहवें इमाम हज़रत हसन असकरी[अ०] जिनकी शहादत सन् 260 हिजरी में हुई थी और उसके फ़ौरन बाद 12वें इमाम की

ग़ैबत[1] शुरू हो गई थी, यह पूरा पीरियड यानी रसूले इस्लाम[स०] की ज़िंदगी से लेकर सन् 260 हिजरी तक का पीरियड हमारे अक़ीदे के हिसाब से बिल्कुल ऐसे ही है जैसे ख़ुद रसूले इस्लाम[स०] इस पीरियड में लोगों के बीच में मौजूद रहे हों यानी इस बीच जो भी बदलाव आए और जो भी हालात बदले, यह सब जैसे ख़ुद रसूले इस्लाम[अ०] की आँखों के सामने हुआ हो।

ज़ाहिर सी बात है कि अगर ऐसा मान लिया जाए तो फिर मुसलमान हर पीरियड और हर हाल में अपनी ज़िम्मेदारियों को बहतर तौर पर समझ पाएंगे और उनको पूरा कर पाएंगे।

चौदह मासूमों[अ०] की ज़िंदगियों में दिखने वाला फ़र्क़

जब हम अपने इमामों की ज़िंदगियों को देखते हैं तो कुछ चीज़ें हमें ऐसी भी दिखाई पड़ती हैं जो आपस में एक दूसरे की ज़िंदगी से टकराती हैं। इसी तरह बहुत सी ऐसी हदीसें भी हैं जिनमें भी यही बात नज़र आती है। लेकिन जहाँ तक हदीसों की बात है तो ज़ाहिर है कि यह इस्लामी फ़िक़ह (Islamic Jurisprudence) का मामला है और उलमा ने इस टकराव को हल करने की कोशिश की है जिस पर यहाँ हमें कोई बात नहीं करना है। हमें

---

[1] ग़ैबत उस पीरियड को कहते हैं जिसमें 12वें इमाम, इमाम मेहदी[अ०] ख़ुदा के हुक्म से लोगों के बीच होने के बावजूद उनकी नज़रों से ग़ायब हो गए थे। यह पीरियड सन् 260 हिजरी से शुरू हुआ था और आज तक चल रहा है। इमाम मेहदी[अ०] आज भी हमारे बीच मौजूद हैं लेकिन हम उन्हें देख नहीं सकते क्योंकि अभी वह ग़ैबत में हैं। इस पूरे पीरियड में यानी पिछले क़रीब 1200 साल से शिया मराजे व उलमा शियों के दीनी सवालों का जवाब देते हैं। जब अल्लाह का हुक्म होगा तो वह फिर ज़ाहिर होंगे और सारी दुनिया को इंसाफ़ से भर देंगे।

यहाँ सिर्फ़ इमामों की ज़िंदगियों में पाए जाने वाले फ़र्क़ पर बात करना है और यह देखना है कि इस मामले को कैसे हल किया जाए।

अगर हदीसों में मौजूद इस टकराव को हल न किया जाए और जिसको जो हदीस मिले वह उसी को सही मान कर उस पर चलने लगे तो बहुत बड़ी मुसीबत खड़ी हो जाएगी। 14 मासूम इमामों की ज़िंदगियाँ और उनके जीने का तरीक़ा भी इसी तरह है। अगर इस मामले को भी हल न किया जाए और न समझा जाए तो बहुत बड़ी अख़लाक़ी और समाजी (Socio- Moral) मुसीबत खड़ी हो जाएगी क्योंकि अगर यह मामला हल न हुआ तो फिर कोई भी आदमी किसी भी इमाम के उस रास्ते को चुन लेगा जो उसे अच्छा लग रहा होगा और उसके फ़ाएदे में होगा। फिर कोई दूसरा आदमी किसी दूसरे इमाम के किसी ऐसे तरीक़े को चुन सकता है जो उन्होंने किसी ख़ास वक़्त या हालात में अपनाया हो। इसका रिज़ल्ट यह होगा कि हर एक अपने–अपने हिसाब से अपने–अपने फ़ाएदे वाला तरीक़ा चुन लेगा और अपनी बात को साबित करने के लिए किसी इमाम की ज़िंदगी से सुबूत भी ले आएगा।

जैसे हो सकता है कि किसी आदमी की सोच कठिनाईयों भरी ज़िंदगी गुज़ारने की हो, कम ख़र्च करने की हो या सादा ज़िंदगी बिताने की हो, अब जैसे ही इस आदमी से पूछा जाएगी कि भाई! तुम यह सब क्यों कर रहे हो? क्यों अपने आप को मुसीबतों में डाल रहे हो तो वह फ़ौरन कह देगा कि रसूले इस्लाम[स०] और हज़रत अली[अ०] भी तो ऐसे ही थे। वह दोनों भी तो कभी मेंहगे कपड़े नहीं पहनते थे, कभी अच्छा खाना नहीं खाते थे, कभी अच्छी सवारी पर सवार नहीं होते थे, न ही उनका घर बहुत शानदार था, वह बस जौ की रोटी खाते थे और सादा कपड़े पहनते थे, ऊँट वग़ैरा पर सवार हो जाते थे और मिट्टी से बने घर में रहते थे।

एक दूसरे आदमी से पूछिए जो ख़र्चीला हो, अच्छा खाता हो, अच्छा पीता हो, अच्छा पहनता हो यानी ठाठ-बाट से रहता हो कि तुम ऐसा क्यों कर रहे हो? इतनी फ़िज़ूलख़र्ची क्यों करते हो? कम में ही क्यों काम नहीं चला लेते तो वह भी फ़ौरन जवाब दे देगा कि इमाम हसन[अ०] या इमाम सादिक़[अ०] भी तो ऐसे ही रहते थे। वह भी तो अच्छा खाते-पीते थे, अच्छे कपड़े पहनते थे, बेहतरीन सवारी पर सवार होते थे और उनके घर भी अच्छे होते थे।

इसी तरह एक ऐसा आदमी जो सुकून से बैठना ही न जानता हो और जो हर वक़्त भागम-भाग में लगा रहता हो, वह अपने इस काम को सही ठहराने के लिए रसूले इस्लाम[स०] की जंगों से भरी ज़िंदगी या इमाम हुसैन[अ०] की ज़िंदगी को सुबूत में ले आएगा या इसके उलट एक ऐसा आदमी जो डरपोक हो, जो बहादुर न हो और बस एक कोने में ही बैठकर हालात को देखते रहना पसंद करता हो वह अपनी इन ख़राब आदतों को भी किसी इमाम की ज़िंदगी जैसा बता सकता है जैसे कि वह कह सकता है कि (मआ-ज़ल्लाह) इमाम सादिक़[अ०] भी तो ऐसे ही थे और उनकी ज़िंदगी भी तो ऐसी ही थी या किसी दूसरे इमाम की ज़िंदगी को सुबूत के तौर पर ले आएगा।

जिस आदमी को समाज और समाजी ज़िंदगी अच्छी लगती होगी वह एक इमाम की ज़िंदगी को चुन लेगा और जिस आदमी को दूसरों से कटकर रहना अच्छा लगता होगा वह किसी दूसरे इमाम की ज़िंदगी को अपने लिए चुन लेगा।

ज़ाहिर है कि इस तरह से न तो रसूले इस्लाम[स०] की और न ही किसी दूसरे इमाम की पाक ज़िंदगी हमारे किसी काम आ सकेगी और न ही इस से कोई फ़ाएदा होगा बल्कि इस तरह की हालत में तो अपने-अपने काम को सही ठहराने के लिए हर आदमी के हाथ में एक

बहाना आ जाएगा। फिर वह न किसी की बात सुनेगा और न हालात को समझने की कोशिश करेगा जिससे पूरा इस्लामी समाज तहस-नहस हो जाएगा।

असलियत भी यही है कि अगर देखा जाए तो हमारे इमामों की ज़िंदगियों में ज़ाहिरी तौर पर यह फ़र्क़ दिखाई पड़ता है जैसे इमाम हसन[अ०], अमीरे शाम से सुलोह कर लेते हैं मगर इमाम हुसैन[अ०] जंग करते हैं। रसूले ख़ुदा[स०] और इमाम अली[अ०] अपने वक़्त में बिल्कुल सादा ज़िंदगी बिताते हैं मगर दूसरे इमामों ने ऐसा नहीं किया।

इसलिए इस मामले को हल होना चाहिए और हमें यह पता होना चाहिए कि आख़िर ऐसा क्यों था?

यह फ़र्क़ नहीं है बल्कि हमें एक फ़ार्मूला दिया गया है

अल्लाह के भेजे हुए चौदह मासूमों की ज़िन्दगियों में हालात और वक़्त के हिसाब से फ़र्क़ बिल्कुल साफ़-साफ़ दिखाई पड़ता है और इस फ़र्क़ से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि हदीसें लिखने वालों ने यह फ़र्क़ अपने हाथों से बना दिया हो। नहीं! ऐसा बिल्कुल नहीं है बल्कि यह फ़र्क़ ख़ुद इस्लाम का बनाया हुआ है यानी इस्लाम की रूह (Sprit) और इस दीन का सिस्टम ही कुछ ऐसा है कि अलग-अलग वक़्तों में इमामों ने अलग-अलग तरह की ज़िंदगी बिताई है। बहरहाल इमामों की यह अलग-अलग ज़िन्दगियाँ हमारे लिए बिल्कुल एक फ़ार्मूले की तरह है और इमामों ने हमें इस तरह से भी ज़िन्दगी बिताने के बड़े सटीक तरीक़े सिखाए हैं।

आइए! इस किताब में देखते हैं कि इमामों की ज़िन्दगियों में फ़र्क़ क्यों था और चौदह मासूमीन ने अलग–अलग तरह से ज़िन्दगी क्यों गुज़ारी है।

आइए! एक बार फिर ऊपर वाली दोनों मिसालों की तरफ़ वापस चलते हैं। पहली वही कम ख़र्चीली ज़िंदगी वाली मिसाल और दूसरी बेहतरीन व आराम भरी ज़िंदगी वाली मिसाल। एक जंग वाली मिसाल और दूसरी सुलोह (Peace) वाली मिसाल।

ज़ोह्द (Asceticism)

दुनिया में लोगों के बीचोंबीच रहते हुए और हर चीज़ हाथ में होते हुए भी एक सिम्पल ज़िंदगी बिताने को ज़ोह्द कहते हैं।

इसमें कोई शक नहीं है कि रसूले इस्लाम[स०] और हज़रत अली[अ०] ने बहुत कठिनाईयों भरी ज़िंदगी बिताई थी। इस्लामी इतिहास की इस सच्चाई को हम दो तरह से देख सकते हैंः

एक यह कि हम यह मान लें कि इस्लाम का साफ़–साफ़ हुक्म है कि इन्सान को इस दुनिया की नेमतों से दूर रहना है यानी जिस तरह से इस्लाम ने तौहीद व इबादत में ख़ुलूस (Purity), सच्चाई और मेल–जोल का हुक्म दिया है उसी तरह इस्लाम दुनिया की नेमतों से दूर रहने का हुक्म भी देता है। जिस तरह हर दौर में इन्सान को इबादत करना है, तौहीद को मानना है, सच्चाई पर चलना है, मेल–मोहब्बत से रहना है, झूठ से दूर रहना है, किसी पर ज़ुल्म नहीं करना है, छल–कपट और धोखाधड़ी से बचना है उसी तरह हर वक़्त और हर तरह के हालात में दुनिया की नेमतों से बचते हुए एक कठिनाईयों भरी ज़िंदगी भी बिताना है।

या हम यह मान लें कि अक़ीदे (Beliefs), अख़लाक़ (Morals) और ख़ुदा के साथ इन्सान के रिश्ते जैसे मामले अलग हैं और समाज में रहते हुए हालात के हिसाब से ज़िंदगी बिताना एक अलग चीज़ है। रसूले ख़ुदा[स०] या हज़रत अली[अ०] ने इसलिए कठिन ज़िंदगी नहीं बिताई थी क्योंकि अच्छी ज़िंदगी बिताना इस्लाम के हिसाब से एक बुरी चीज़ है बल्कि मामला कुछ है और वह यह कि जिस वक़्त रसूले इस्लाम[स०] और इमाम अली[अ०] जी रहे थे वह एक ऐसा वक़्त था जब आम मुसलमानों के हालात अच्छे नहीं थे, ग़रीबी बहुत थी, कठिनाईयाँ बहुत थीं और आम ज़िंदगी का लेवल बहुत नीचा था। ऐसे वक़्त में हालात यही कहते हैं कि कम से कम पर ज़िंदगी की गाड़ी को चलाया जाए और जो कुछ बच जाए वह दूसरों को दे दिया जाए।

इसके अलावा यह वह वक़्त था जब रसूले इस्लाम[स०] और इमाम अली[अ०] दोनों ही हुकूमत में थे और इस्लामी हुकूमत में लीडर की ड्युटी दूसरों से कहीं बढ़कर होती है क्योंकि हर एक की निगाहें उसी पर लगी होती हैं। अगर दूसरे ग़रीबी में जीने पर मजबूर हैं तो लीडर को भी वैसी ही ज़िंदगी बिताना होगी।

एक दिन ईराक़ के बसरा शहर में हज़रत अली[अ०] की मुलाक़ात अला बिन ज़ियाद हारिसी से हो गई। उसने इमाम अली[अ०] से अपने भाई की शिकायत करते हुए कहा, ‘‘मेरे भाई ने दुनिया को छोड़ दिया है, न वह अच्छे कपड़े पहनता है और न अच्छा खाता-पीता है। इतना ही नहीं बल्कि उसने अपने बीवी बच्चों को भी छोड़ दिया है।’’

इमाम ने कहा, ‘‘उसे बुलाकर लाओ।’’

जब वह आ गया तो इमाम ने उससे कहा, ‘‘तुमने यह क्या हाल बना रखा है? क्यों इतनी कठिन ज़िंदगी जी रहे हो? क्यों अपने बीवी-बच्चों पर रहम नहीं खाते हो? ख़ुदा ने अनगिनत पाक और हलाल नेमतें इस

दुनिया में रख दी हैं, क्या ख़ुदा को यह बात पसंद नहीं है कि तुम उसकी नेमतों को इस्तेमाल करो? तुम्हें क्या लगता है, क्या ख़ुदा नहीं चाहता कि उसके बंदे यह नेमतें इस्तेमाल करें?''

उसने कहा, ''ऐ अमीरल मोमिनीन! आप भी तो मेरी ही तरह रहते हैं। आप भी तो अच्छे कपड़े नहीं पहनते और आप भी तो अच्छा खाना नहीं खाते।''[1]

इमाम ने कहा, ''मेरा मामला अलग है। मैं इमाम हूँ, मैं लीडर हूँ, मैं लोगों की आम ज़िंदगी का ज़िम्मेदार हूँ और मेरी ज़िम्मेदारी है कि जितना हो सके मैं उतना लोगों की ज़िंदगी को बहतर बनाने की कोशिश करूँ। मेरे ऊपर वाजिब है कि मैं समाज के सबसे कमज़ोर आदमी की ज़िंदगी के लेवल पर आकर ज़िंदगी बिताऊँ ताकि ग़रीबों को ग़रीबी और मुश्किलों का एहसास कम हो। अगर मैं और कुछ न भी कर सकूँ तो कम से कम इतना तो कर ही सकता हूँ कि अपने इस काम से उनके दुख कुछ कम कर दूँ ताकि मुझे देखकर उन्हें कुछ सूकून मिल जाए कि हमारी हुकूमत का मालिक भी तो हमारी ही तरह है।''

यह थीं वह दो वजहें जिनको सामने रखकर हम यह समझ सकते हैं कि रसूले इस्लाम[स०] और इमाम अली[अ०] ने कठिनाईयों भरी ज़िंदगी क्यों बिताई थी।

अगर पहली वाली मिसाल सही है तो फिर हर हाल में और हर वक़्त में सारे इमामों को बस एक ही तरह की ज़िंदगी बिताना चाहिए थी, चाहे आम लोगों की ज़िंदगी जैसी भी हो, वह कठिनाईयों में हों या आसानियों में, भूखे हों या चटपटे खाने खा रहे हों।

अगर दूसरी मिसाल सही है तो फिर ज़रूरी नहीं है कि सारे इमाम एक जैसी ही ज़िंदगी बिताएं बल्कि हालात व वक़्त के हिसाब से हर एक की ज़िंदगी बदल जाएगी

---

[1] नहजुल बलाग़ा, ख़ुतबा/200

जैसे कि बदली भी और हर इमाम ने अलग तरह की ज़िंदगी बिताई।

जब हम इमाम सादिक़[अ०] की ज़िंदगी और उनकी हदीसों को देखते हैं तो दिखाई पड़ता है कि इमाम सादिक़[अ०] की ज़िंदगी रसूले इस्लाम[स०] और इमाम अली[अ०] से अलग थी और इसकी वजह वही है जो अभी ऊपर बयान हुई है। ख़ुद इमाम सादिक़[अ०] ने भी यह राज़ अपनी हदीसों में और अपने सहाबियों के सामने बता दिया था।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह इमाम सादिक़[अ०] की हदीसों का ही निचोड़ है।

इमाम सादिक़[अ०] के वक़्त में मुसलमानों के बीच एक ऐसा ग्रुप भी पैदा हो गया था जिसका मानना था कि जैसी ज़िंदगी रसूले इस्लाम[स०] ने बिताई थी वैसी ही ज़िंदगी हर पीरियड और हर तरह के हालात में हर मुसलमान को बिताना चाहिए और जितना हो सके उतना दुनिया की नेमतों से दूर रहना चाहिए। अपनी इस सोच को वह लोग ''ज़ोह्द'' (Ascetism) का नाम देते थे और इसीलिए इस ग्रुप का नाम भी ''मु-त-सव्वफ़ा'' यानी ज़ोह्द वाले पड़ गया था। अहले सुन्नत के एक बहुत बड़े आलिम सुफ़यान सौरी उन्हीं में से हैं। वह इमाम सादिक़[अ०] के वक़्त में ही थे। इमाम के पास भी उनका आना-जाना था। वह इमाम से इस्लाम के बारे में सवाल करते थे और इमाम इनको जवाब देते थे।

किताब *उसूले काफ़ी* में लिखा है कि एक दिन सुफ़यान सौरी इमाम सादिक़[अ०] के पास आए। देखा कि इमाम एक बहुत अच्छा सफ़ेद रँग का कपड़ा पहने हुए हैं। सुफ़यान की समझ में यह बात नहीं आई, इसलिए फ़ौरन ही सवाल कर लिया, ''ऐ रसूल के बेटे! आप भी दुनिया के चक्कर में पड़ गए हैं, आपके लिए यह कोई अच्छी बात नहीं है।''

इमाम ने कहा, ''शायद तुम रसूले इस्लाम[स०] और उनके साथियों की ज़िंदगी को देखकर यह बात कह रहे हो। वह पीरियड और वह लोग तुम्हें याद आ गए हैं और तुम्हें लग रहा है कि अल्लाह की तरफ़ से यह भी एक ज़िम्मेदारी है कि मुसलमान क़यामत तक उसी तरीक़े पर चलें और वैसी ही ज़िंदगी बिताएं लेकिन जान लो कि ऐसा बिल्कुल नहीं है। रसूले इस्लाम जिस वक़्त और जिन हालात में जी रहे थे उस वक़्त मुसलमानों के हालात अच्छे नहीं थे, ग़रीबी बहुत ज़्यादा थी और लोग बहुत दुखी थे और इतने दुखी कि आम ज़िंदगी की ज़रूरी चीज़ें भी उनके पास नहीं थीं। अब तो वैसे हालात नहीं हैं, इसलिए अब उस जैसी ज़िंदगी पर चलने की भी कोई ज़रूरत नहीं है बल्कि ख़ुदा की नेमतों को इस्तेमाल करने और उन से फ़ाएदा उठाने के लिए सबसे बेहतर मुसलमान और अच्छे लोग ही तो हैं, न कि दूसरे।''

यह कहानी बहुत लम्बी है और बाद में सुफ़यान सौरी के साथी भी आ गए थे। इमाम ने सुफ़यान के सवालों के बहुत खुलकर जवाब दिए थे और बहुत सारी दलीलें (Proofs) भी दी थीं जिनको यहाँ बयान नहीं किया जा सकता।

अटल क़ानून और लचकदार क़ानून

हमारे इमामों ने जिस तरह से हमें बताया और सिखाया है अगर उसे सामने रखा जाए तो उनकी ज़िंदगियों में दिखने वाला यह फ़र्क़ हमें यह भी बताता है कि इस्लाम में ज़िंदगी बिताने के लिए कुछ क़ानून ऐसे हैं जिनमें किसी भी तरह का कोई बदलाव नहीं लाया जा सकता और कुछ क़ानून ऐसे भी हैं जिनमें वक़्त व हालात के हिसाब से बदलाव लाया जा सकता है।

इस्लाम का एक अटल क़ानून यह है कि चाहे कोई भी मुसलमान हो, वह अपनी ज़िंदगी को दूसरे लोगों की आम ज़िंदगी से अलग नहीं समझ सकता यानी उसकी इस्लामी ड्यूटी है कि वह अपनी ज़िंदगी को दूसरों की ज़िंदगी के हिसाब से गुज़ारे। इस्लाम में ऐसा हो ही नहीं सकता कि एक तरफ़ लोग कठिनाईयों भरी ज़िंदगी बिताने पर मजबूर हों और उसी समाज में कुछ लोग शानदार ज़िंदगी जी रहे हों, चाहे वह हलाल रास्ते से ही क्यों न ऐसी ज़िंदगी जी रहे हों।

अपने इस काम को साबित करने के लिए यह लोग सूरए आराफ़ की आयत/32 को भी ले आते हैंः

> ऐ रसूल! इनसे पूछिए कि ख़ुदा की पैदा की गई ज़ीनत और पाक व हलाल रिज़्क़ को उनके ऊपर किसने हराम कर दिया है?

इमाम सादिक़[अ०] ने ख़ुद भी और उनके घर वालों ने भी दूसरे इमामों और उनके घर वालों के मुक़ाबले में काफ़ी अच्छी ज़िंदगी बिताई थी मगर इमाम सादिक़[अ०] के वक़्त में ही एक बार सूखा पड़ गया था और लोग दाने–दाने को तरस गए थे। इसलिए इमाम ने अपने नौकर को बुलाया और उससे पूछा, ''हमारे पास कितना गेहूँ है?''

उसने कहा, ''गेंहू तो बहुत है। तीन–चार महीने तक कोई मुश्किल नहीं होगी।''

इमाम ने उससे कहा, ''जाओ! सब ले जाकर बाज़ार में बेच दो।''

उसने कहा, ''अगर हम ने अपना गेहूँ बेच दिया तो फिर हमें कहीं से भी गेंहूँ नहीं मिल पाएगा।''

इमाम ने कहा, ''कोई बात नहीं। जब ऐसा होगा तब हम भी दूसरे लोगों की तरह ही गुज़र–बसर कर लेंगे। दूसरों की तरह हम भी दिन के दिन अपनी रोज़ी का बन्दोबस्त कर लेंगे।''

उसके बाद हुक्म दिया कि आज से जो रोटियाँ बनेंगी उनमें आधा गेहूं होगा और आधी जौ।

यानी वैसी ही रोटी पकना चाहिए जैसी दूसरे आम लोग खा रहे हैं।

फिर इमाम ने फ़रमायाः

> अगर मैं चाहूँ तो अपने बच्चों को इस सूखे के मौसम और इन कठिन हालात में भी गेहूँ से बनी रोटियाँ खिला सकता हूँ लेकिन मैं चाहता हूँ कि मेरा ख़ुदा देख ले कि मैं दूसरों के साथ बराबरी से रहता हूँ।

इस्लाम का एक दूसरा अटल क़ानून यह है कि इन्सान हर हाल और हर वक़्त में अपनी सोच को ऊँचा बनाए रखे और दुनिया की मिट जाने वाली चीज़ों से दिल न लगाए यानी अपनी दुनिया को दीन से आगे न रखे, पैसे और पोस्ट को अख़लाक़ (Morals) से आगे न रखे यानी इस दुनिया को बस एक टूल समझे, न कि मंज़िल।

इसके अलावा ज़िंदगी बिताने के लिए जितनी भी दूसरी चीज़ें ज़रूरी हैं उनमें कोई अटल क़ानून नहीं है यानी हो सकता है कि एक वक़्त में अलग हालात हों और दूसरे वक़्त में अलग। जैसा कि रसूले ख़ुदा[स०] और इमाम अली[अ०] ने किया कि कठिनाईयाँ भरी ज़िंदगी बिताई मगर दूसरे इमामों ने ऐसा नहीं किया।

जंग या सुलोह (War or Peace)

दूसरी मिसाल जँग और सुलोह (Peace) की थी। यह मामला भी बहुत गर्म रहा है। यहाँ हम सिर्फ़ इमाम

हुसैन[अ०] और इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] के बारे में ही बात करेंगे।

हालात भी बता रहे थे और इमाम हुसैन[अ०] को भी पता था कि शहीद कर दिए जाएंगे फिर भी इमाम ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया था और अपना शहर मदीने को छोड़ दिया था जबकि इमाम सादिक़[अ०] से उस वक़्त के बहुत से लोगों ने कहा भी था कि तलवार उठाइए, हम आपके साथ हैं लेकिन इमाम ने तलवार नहीं उठाई। इसके बजाए इमाम पढ़ने-पढ़ाने और इस्लाम को फैलाने में लगे रहे।

अगर इन दोनों इमामों के फ़ैसलों को देखा जाए तो होना तो यही चाहिए कि ज़ुल्म के मुक़ाबले में आदमी को उठ जाना चाहिए और किसी भी दूसरी चीज़ पर ध्यान नहीं देना चाहिए। अगर ऐसा है तो फिर इमाम सादिक़[अ०] ने जंग क्यों नहीं की? क्यों ज़िंदगी भर तक़य्या किया? और अगर तक़य्या[1] करना और इस्लाम को फैलाना ही इमाम की ज़िम्मेदारी है तो फिर इमाम हुसैन[अ०] ने यह काम क्यों नहीं किया? इमाम हुसैन[अ०] ने क्यों जंग की?

इस सवाल के लिए इमाम सादिक़[अ०] के पीरियड के हालात को देखना और समझना बहुत ज़रूरी है। तभी इस सवाल का जवाब मिल पाएगा।

---

[1] तक़य्या यानी ख़ुद को दुश्मन से छुपाना, बिल्कुल वैसे ही जैसे फ़ौजी ख़ुद को या अपने फ़ौजी हथियारों को कैमोफ़्लॉज कर लेते हैं और पेड़ों की टहनियों, पत्तियों व मिट्टी से अपने आप को छुपा लेते हैं ताकि दुश्मन आसानी से उन्हें ने देख सके। तक़य्या, दीन के दुश्मन से छुपने का नाम है।

इमाम जाफ़र सादिक़[अ0] के पीरियड के पॉलिटिकल हालात

इमाम सादिक़[अ0] के पीरियड में हुकूमत बनी उमय्या के ख़ानदान से बनी अब्बास के ख़ानदान के पास चली गई थी। बनी अब्बास, बनी हाशिम के ख़ानदान के थे और अलवियों के चचाओं में गिने जाते थे। असल में हुआ यह था कि बनी उमय्या के आख़िरी ख़लीफ़ा, मरवान बिन मोहम्मद की हुकूमत कमज़ोर पड़ गई थी जिसकी वजह से अब्बासियों और अलवियों के कुछ ग्रुप आपस में मिल गए थे। ख़ुद अलवियों के भी दो धड़े थेः एक धड़ा इमाम हसन[अ0] की पीढ़ी से था जिसका नाम *बनी अल–हसन* था और दूसरा धड़ा इमाम हुसैन[अ0] की पीढ़ी से था जिसका नाम *बनी अल–हुसैन* था। बनी अल–हुसैन में से ज़्यादातर लोग आगे नहीं आए थे जिनमें इमाम सादिक़[अ0] भी शामिल थे। इमाम सादिक़[अ0] से बार–बार कहा गया था लेकिन इमाम हर बार मना करते रहे थे। शुरू में मामला अलवियों का था और बनी अब्बास भी अलवियों का ही साथ दे रहे थे। सफ़्फ़ाह, मन्सूर और उनके बड़े भाई इब्राहीम अल–इमाम ने मोहम्मद बिन अब्दुल्लाह बिन हसन बिन हसन (नफ़्से ज़किय्या) के हाथ पर बैअत कर ली थी और उन्हें अपना लीडर मान लिया था। यहाँ तक कि यही मन्सूर जिसने बाद में मोहम्मद बिन अब्दुल्लाह को क़त्ल भी कर दिया था, यह शुरू में अब्दुल्लाह बिन हसन के साथ था और उनके नौकर की तरह उनके घोड़े की ज़ीन को सजाया करता था क्योंकि अब्बासियों को पता था कि लोगों की मोहब्बतें और उनके दिल अलवियों के साथ हैं। बनी अब्बास ऐसे लोग नहीं थे कि उनका दिल इस्लाम के लिए धड़कता हो बल्कि उनका काम बस दुनिया को पाना था। जो कुछ हो रहा था उससे उन्हें बस हुकूमत, माल–दौलत और दुनिया चाहिए थी। इमाम

सादिक़[अ०] को शुरू ही से यह बात पता थी और इसीलिए वह उनका साथ देने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे।

शुरू ही से बनी अब्बास जब किसी को अपने मिशन पर भेजते थे तो उसे कोई ख़ास नाम देकर नहीं भेजते थे बल्कि उसका नाम *अल-रिज़ा मिन आले मोहम्मद* या *अल-रज़ी मिन आले मोहम्मद* (यानी अहलेबैत[अ०] में जो सब से बेहतरीन है), रखते थे और इस तरह से धीरे-धीरे अपने लिए मैदान तैयार करते जा रहे थे। मिशन पर जाने वालों में दो आदमी बहुत मशहूर हैंः एक अबू सलमा ख़लाली जो अरब था। यह कूफ़े में चोरी-छुपे अपने मिशन पर लगा हुआ था और वहीं से मिशन को चला रहा था। अबू सलमा को यह लोग ''आले मोहम्मद का वज़ीर'' कहते थे। दूसरा आदमी एक ईरानी था जिसका नाम अबू मुस्लिम ख़ुरासानी था जिसको यह लोग ''आले मोहम्मद का सरदार'' कहते थे।

मसऊदी ने अपनी किताब *मुरूजुज़्ज़हब* में लिखा है कि सफ़्फ़ाह और मन्सूर के बड़े भाई इब्राहीम अल-इमाम के क़त्ल के बाद अबू सलमा ने अलवियों को भी अपने मिशन से जोड़ने का फ़ैसला कर लिया था। इसके लिए उसने दो ख़त लिखकर मदीने भेजे थे। एक ख़त इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] के पास भेजा था क्योंकि वही उस वक़्त बनी अल-हुसैन के सबसे बड़े थे और दूसरा ख़त अब्दुल्लाह बिन हसन बिन हसन के पास भेजा था क्योंकि यह बनी अल-हसन के बड़े थे। इमाम सादिक़[अ०] के पास ख़त पहुँचा तो उन्होंने उसे बिल्कुल ही अंदेखा कर दिया और जवाब देने से ही मना कर दिया। जब ख़त लाने वाले ने बार-बार जवाब माँगा तो इमाम ने उसके सामने ही उस ख़त को जला दिया था और कहा था कि यही तुम्हारे लाए हुए ख़त का जवाब है। लेकिन अब्दुल्लाह बिन हसन धोखा खा गए थे। ख़त देखते ही वह ख़ुश हो गए। जबकि इमाम सादिक़[अ०] ने उनको समझाया भी था कि रहने दो, कोई फ़ाएदा नहीं है

क्योंकि बनी अब्बास तुम्हें और तुम्हारे बच्चों को हुकूमत नहीं देंगे लेकिन अब्दुल्लाह की समझ में यह बात नहीं आई थी। उधर इससे पहले कि अब्दुल्लाह का जवाब अबू सलमा के पास पहुँच पाता, सफ़्फ़ाह ने अबू मुस्लिम ख़ुरासानी के साथ मिलकर अबू सलमा को क़त्ल कर दिया था क्योंकि सफ़्फ़ाह को अबू सलमा के बारे में शक हो गया था। अबू सलमा को क़त्ल करवाके मशहूर यह करा दिया कि *ख़्वारिज* ने क़त्ल किया है। जिसके बाद उसने ख़ुद ही अब्दुल्लाह और उनके बच्चों को गिरफ़्तार कराके क़त्ल भी करा दिया।

यह थे वह हालात जिनकी वजह से इमाम सादिक़[अ०] तलवार नहीं उठा रहे थे और न ही हुकूमत की तरफ़ जा रहे थे।

इमाम सादिक़[अ०] के मना करने की वजह

इमाम सादिक़[अ०] के मना करने करने की वजह सिर्फ़ यह नहीं थी कि उनको पता था कि बनी अब्बास इमाम के हाथों में हुकूमत आने ही नहीं देंगे और काम निकल जाने के बाद शहीद कर देंगे क्योंकि अगर इमाम यह मानते होते कि उनकी शहादत से इस्लाम और मुसलमानों को ज़्यादा फ़ाएदा होगा तो वह अपने लिए शहादत को ही चुन लेते जिस तरह इमाम हुसैन[अ०] ने अपने लिए शहादत को चुन लिया था। इमाम सादिक़[अ०] के वक़्त में इस्लाम के लिए जो चीज़ सबसे ज़्यादा कारगर हो सकती थी वह मुसलमान समाज की एक ऐसी लीडरशिप थी जिसके तले मुसलमान इल्म के रास्ते पर आराम से आगे बढ़ते चले जाएं, उनकी सोच भी निखर जाए और यह काम इमाम ने किया भी जिसका असर आज तक देखा जा सकता है, जिस तरह इमाम हुसैन[अ०] के वक़्त में हालात कुछ ऐसे ही थे कि इस्लाम को इमाम की शहादत

चाहिए थी और इमाम ने भी इस्लाम के नाम पर अपनी और अपने घर वालों की शहादत को ख़ुशी-ख़ुशी गले लगा लिया था और इस शहादत का असर भी आज तक देखा जा सकता है।

ऊपर अब तक जो बात कही गई है उसकी जान यह है कि जंग, सुलोह-शान्ति, तक़य्या, इस्लाम की तबलीग़ (Propagation), हुकूमत, जिहाद, अम्र बिल मारूफ़ व नही अनिल मुन्कर (अच्छाईयों की तरफ़ बुलाना और बुराईयों से रोकना) जैसे कामों में इन कामों से पड़ने वाले असर और मिलने वाले रिज़ल्ट पर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है। यह वुज़ू, ग़ुस्ल, नमाज़ या रोज़े जैसी इबादतें नहीं हैं बल्कि हालात और वक़्त के हिसाब से इन कामों का असर और रिज़ल्ट अपने आप बदल जाता है। कुछ हालात में इस्लाम को जंग व जिहाद से ज़्यादा फ़ाएदा होता है और दूसरे हालात में जंग न करने से। यह सब बातें हालात व वक़्त के हिसाब से बदलती रहती हैं जिसको समझने के लिए बहुत गहरी नज़र की ज़रूरत है। अगर इस मामले में कोई चूक हो जाए तो इस से इस्लाम को बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचने का ख़तरा बन जाता है।

इमाम सादिक़[अ0] के पीरियड के समाजी हालात

इमाम सादिक़[अ0] के पीरियड के पॉलिटिकल हालात एक तरफ़, ख़ुद समाजी हालात भी बहुत जटिल और पेचीदा हो गए थे। इसलिए ज़रूरी था कि इमाम जंग के मैदान में तलवार न उठाकर अपना जिहाद समाजी मैदान में लड़ें। इमाम हुसैन[अ0] पहली सदी हिजरी के लगभग पहले हिस्से में जी रहे थे और इमाम सादिक़[अ0] दूसरी

सदी हिजरी के पहले हिस्से में। इन लगभग 100 सालों में हालात बहुत बदल गए थे।

अगर पहली सदी हिजरी के पहले पचास सालों को देखा जाए तो मुस्लिम जगत में जंग का सिर्फ़ एक मैदान था और वह था पटरी से उतर चुकी हुकूमत से जंग करना। अभी जंग के दूसरे मैदान तैयार नहीं हुए थे या अगर तैयार हो भी गए थे तो उनकी कोई ख़ास जगह नहीं बन पाई थी। जो कुछ ख़राबियाँ या बुराईयाँ पैदा हो रही थीं वह सिर्फ़ हुकूमती मशीनरी से हो रही थीं और जो समाज था वह वही समाज था जिसने या तो ख़ुद रसूले इस्लाम का पीरियड देख रखा था या उनके क़रीबी साथियों का। इसलिए आम मुसलमान अभी उसी हिसाब से जी रहे थे लेकिन जब वक़्त आगे बढ़ा तो बहुत सी वजहों से मुसलमानों के बीच तरह-तरह की गड़बड़ियाँ भी उभर आई थीं और समाज कई तरफ़ से इस्लामी रास्ते को भुला बैठा था। यह वह पीरियड था जब इल्मी और तहज़ीबी (Literary and Cultural) जंग शुरू हो गई थी और ख़ुद मुसलमानों के बीच में ही बहुत से फ़िरक़े बन गए थे और यह फ़िरक़े उसूले दीन (Roots of Islam) में भी थे और फ़ुरूए दीन (Branches of Islam) में भी। एक इतिहासकार ने लिखा है कि उस वक़्त मुसलमानों में जंगों को छोड़कर इल्म व कल्चर (Knowledge & Culture) के मैदान को जीतने की चाह पैदा हो गई थी। अब जंगें, जंग के मैदान में तलवारों व तीरों से नहीं लड़ी जा रही थीं बल्कि इल्म का मैदान जंग का मैदान बन गया था।

यही वह पीरियड भी था जब इस्लामी उलूम (Islamic Sciences) भी तैयार किए जा रहे थे।

उस वक़्त यानी इमाम सादिक़[अ०] के पीरियड में एक तरफ़ तो बनी उमय्या और बनी अब्बास के बीच आपस में जंग चल रही थी जिसकी वजह से हुकूमत ढीली पड़ गई थी और इसका एक फ़ाएदा यह हुआ था कि इस्लामी टीचिंग्स को किसी हद तक आसानी से समाज में फैलाया

जा सकता था। दूसरी तरफ़ से ख़ुद मुसलमानों के बीच भी पढ़ने-पढ़ाने, इल्म हासिल करने और रिसर्च करने का शौक़ पैदा हो गया था। इसलिए ज़रूरी था कि इमाम सादिक़[अ०] आगे आएँ और समाज की बागडोर अपने हाथ में ले लें और उसे रास्ता दिखाएँ, इल्म के बन्द दरवाज़े खोल दें, इल्म की गुत्थियाँ सुलझाएँ और इस्लाम का क़ानून व सिस्टम दुनिया के सामने रखें।

इससे पहले इन चीज़ों के लिए इतना अच्छा मैदान कभी तैयार नहीं हो पाया था और न ही लोगों में इल्म के लिए इतना शौक़ पैदा हुआ था और न ही उनके अंदर इतनी समझ आ पाई थी।

इमाम सादिक़[अ०] के ज़माने में हमें बड़े-बड़े दहरिये (ख़ुदा का इंकार करने वाले) दिखाई पड़ते हैं जिनमें सबसे ऊपर इब्ने अबिल औजा, अबू शाकिर दैसानी और इब्ने मुक़फ़्फ़ा जैसे लोग आते हैं जिनके चर्चे उस वक़्त चारों ओर थे। यह लोग इमाम सादिक़[अ०] के पास बहस करने के लिए आते थे और इमाम इन लोगों के साथ बैठकर बहुत अच्छी तरह से उनके सवालों के जवाब दिया करते थे। आज भी इन लोगों के अजीब-अजीब सवाल और इमाम सादिक़[अ०] के ख़ूबसूरत जवाब किताबों में लिखे हुए हैं जिनको पढ़कर आदमी दाँतों तले उंगली दबा लेता है। *तौहीदे मुफ़ज़्ज़ल* इसी तरह की पूरी एक किताब है जो इमाम के मुफ़ज़्ज़ल नाम के एक सहाबी और एक दहरिये (Athiest) के बीच होने वाली बहस के बाद लिखी गई थी। मुफ़ज़्ज़ल जब उस दहरिये से बहस करके वापस आए तो इमाम ने उन्हें तौहीद के ऊपर चार लम्बे-लम्बे लेक्चर दिए थे और उन्हीं लेक्चर्स को मुफ़ज़्ज़ल ने लिख लिया था जो बाद में किताब बन गई। आज भी यह किताब मौजूद है।

उधर मुसलमानों के बीच ''मौ-त-ज़ेला'' नाम का एक ग्रुप भी बन गया था जो उसूले दीन और समाजी मामलों में नई-नई बातें फैला रहा था। इस ग्रुप को

बनाने वाले अम्र बिन उबैद और वासिल बिन अता जैसे बड़े-बड़े आलिम थे जिन से टक्कर लेना हर एक के बस की बात नहीं थी। यह लोग भी इमाम सादिक़[अ०] के पास आते थे और ख़ूब सवाल-जवाब होते थे। यह ख़ुद एक बहुत बड़ा जंजाल था जिससे निपटना बहुत ज़रूरी था।

साथ ही यही वह वक़्त भी था जब हमें उस वक़्त के बड़-बड़े उलमा व फ़ुक़ुहा (Experts of Jurisprudence) भी नज़र आते हैं जो या तो इमाम के शार्गिद थे या अगर नहीं भी थे तो इमाम के पास अपने सवालों के जवाब लेने के लिए आया-जाया करते थे। इमाम अबू हनीफ़ा और इमाम मालिक उसी वक़्त के हैं और इन दोनों ने भी इमाम सादिक़[अ०] से बहुत कुछ सीखा था। इमाम शाफ़ई और इमाम हम्बल, इमाम सादिक़[अ०] के शार्गिदों के शार्गिद थे। इमाम मालिक तो मदीने ही में रहते थे और इमाम के पास आते रहते थे।

इमाम मालिक एक जगह कहते हैंः

> मैं जब उनके पास जाता था तो वह मुझे बहुत इज़्ज़त देते थे जिससे मुझे बहुत ख़ुशी होती थी। मैं ख़ुदा का बड़ा शुक्र करता था कि वह मुझ से इतनी मोहब्बत करते हैं।
>
> वह बहुत बड़े इबादत करने वाले थे। अल्लाह का डर उनके दिल में कूट-कूट कर भरा हुआ था। रसूल[स०] की हदीसों का इल्म उनके पास सबसे ज़्यादा था। जब मिलते थे तो बहुत अच्छे से मिलते थे और उनसे बात करके बहुत फ़ाएदा होता था।
>
> न किसी आँख ने देखा है, न किसी कान ने सुना है और न किसी दिल में यह बात उतरी है कि कोई जाफ़र बिन मोहम्मद(अ०) से ज़्यादा क़ाबिल हो।

इमाम अबू हनीफ़ा कहते थेः

> मैंने जाफ़र बिन मोहम्मद(अ०) से बड़ा आलिम नहीं देखा।

एक जगह इमाम अबू हनीफ़ा कहते हैंः

> जब मन्सूर के बुलाने पर जाफ़र बिन मोहम्मद(अ०) ईराक़ गए तो मन्सूर ने मुझ से कहा कि जितने कठिन से कठिन सवाल हो सकते हों तैयार कर लो। मैंन चालीस सवाल तैयार किए और तय वक़्त पर दरबार में पहुँच गया। मन्सूर ने मेरे बारे में इमाम को बताया तो इमाम ने कहा कि मैं इन्हें जानता हूँ। यह हमारे पास आते-रहते हैं। फिर मैंने मन्सूर के कहने पर सवाल करना शुरू कर दिए। इमाम ने हर सवाल के जवाब में इस तरह से कहा कि इस बारे में ईराक़ के उलमा का कहना यह है और मदीने के उलमा का मानना यह है। किसी मसले में वह हमारी बात को सही ठहराते थे और किसी मसले में मदीने के उलमा की बात को और किसी मसले में बिल्कुल ही एक नई बात कह देते थे जो ईराक़ या मदीने वालों में से किसी की भी नहीं होती थी।

इमाम सादिक़अ० का पीरियड वह पीरियड है जब नज़रियात व अक़ाएद (Theories and Beliefs) की जंग शुरू हो चुकी थी और ज़रूरत इस बात की थी कि इमाम अपनी सारी कोशिशें और अपना सारा वक़्त बस इसी मैदान में लगा दें और यही इमाम ने किया भी था कि उनका सारा ध्यान बस इसी काम पर लगा हुआ था।

इमाम हुसैनअ० को पता था कि उनकी शहादत अपना असर ज़रूर दिखाएगी, इसलिए वह अपने वतन को छोड़कर निकल पड़े थे और जिसके बाद उन्हें करबला में

शहीद कर दिया गया था जिसका असर आज तक बाक़ी है। लेकिन इमाम सादिक़[अ०] का वक़्त शहादत के बजाए कुछ और माँग रहा था और उस वक़्त की ज़रूरतों को देखते हुए इमाम ने अपना सारा ज़ोर इस्लाम को फैलाने के लिए अपने शार्गिद तैयार करने, पढ़ने-पढ़ाने और एक पूरी युनिवर्सिटी बनाने पर लगा दिया था। उस वक़्त बग़दाद मुस्लिम दुनिया में इल्म का एक बहुत बड़ा सेंटर बन गया था और यह इमाम सादिक़[अ०] का ही ज़माना था। इमाम अपनी उम्र के आख़िर में शायद बग़दाद भी गए थे। अगर इस्लामी उलूम (Islamic Sciences) में आज शिया फ़िरक़ा दूसरे सारे फ़िरक़ों से आगे है तो इसके पीछे इमाम सादिक़[अ०] की ही मेहनत है। वह सब इमाम सादिक़[अ०] के शार्गिद ही थे जिन्होंने अरबी लिट्रेचर, क़ुरआन की तफ़सीर, फ़िक़ह (Jurisprudence), फ़िलॉस्फ़ी, इरफ़ान (Mysticism), अक़ाएद (Theology), नुजूम (Astronomy), मैथ्मेटिक्स और इतिहास जैसे सब्जेक्ट पर किताबें लिखी थीं जिस के बाद बहुत बड़े-बड़े उलमा पैदा हुए और इल्म का सिलसिला इसी तरह आगे बढ़ता रहा। आज शिया फ़िरक़े को इल्म के मैदान में जो स्टेटस मिला हुआ है यह सिर्फ़ इमाम सादिक़[अ०] की कोशिशों का ही रिज़ल्ट है।

कहने का मतलब बस इतना सा है कि हमारे हर इमाम ने अपने वक़्त के ख़ास हालात को देखकर ही अपनी ज़िंदगी बिताई है। जब भी कोई इमाम अपनी ज़िंदगी का रास्ता चुनता था तो पहले वह यह देखता था कि किस तरह की ज़िंदगी जीने में इस्लाम व मुसलमानों का फ़ाएदा है। इसलिए जैसा वक़्त और जैसी ज़रूरत होती थी हमारे इमाम उसी के हिसाब से अपनी ज़िंदगी बिताते थे।

मासूम इमामों की ज़िंदगियों में पाया जाने वाला यह फ़र्क़ या यह टकराव कोई फ़र्क़ या टकराव है ही नहीं बल्कि यह तो उन लोगों के लिए एक बेहतरीन सीख है

जो समझदार हैं, अक़्लमंद हैं और सोचने–समझने की ताक़त रखते हैं। ऐसे लोग इमामों की ज़िंदगी को सामने रखकर अपने–अपने वक़्त और अपने–अपने हालात के तहत अपनी ज़िंदगी का रास्ता चुन सकते हैं कि अगर तलवार उठाने की ज़रूरत हो तो इमाम हुसैन[अ०] की तरह तलवार उठाएं और अगर इल्म की ज़रूरत हो तो इमाम सादिक़[अ०] की तरह इल्म की रौशनी से सारी दुनिया को जगमगा दें और अगर कोई और वक़्त हो या दूसरे हालात हों तो किसी और इमाम की ज़िंदगी को सामने रखकर हालात को समझने की कोशिश की जाएः

> इस कहानी में उस इन्सान के लिए नसीहत की बातें मौजूद हैं जिसके पास दिल हो या जो पूरे ध्यान के साथ बातें सुनता हो।[1]

---

[1] सूरए क़ाफ़/37

(2)

सही फ़र्क़ और ग़लत फ़र्क़

सवाल यह है कि इंसाफ़ और बराबरी (Justice and Equality) में क्या फ़र्क़ है?

कौन सा फ़र्क़ इंसाफ़ से मेल नहीं खाता है?

क्या समाज में पाया जाने वाला हर फ़र्क़ ग़लत है?

क्या इंसाफ़ का मतलब यह है कि समाज में लोगों के बीच किसी भी तरह का कोई भी फ़र्क़ न हो?

क्या लोगों के बीच कोई भी फ़र्क़ नहीं होना चाहिए?

या इसका मतलब यह है कि लोगों के बीच फ़र्क़ तो हो लेकिन ग़लत फ़र्क़ न हो?

अगर इसका यह मतलब है तो फिर यह सवाल भी पैदा होता है कि यह कहाँ से तय होगा कि कौन सा फ़र्क सही है और कौन सा फ़र्क़ ग़लत है?

वह कौन सा फ़ार्मूला या क़ानून है जिस पर चलकर यह कहा जा सके कि अगर यह फ़र्क़ हो तो सही है और यह फ़र्क़ न हो तो ग़लत है?

हज़रत अली[अ०] की नज़र में इंसाफ़ और बराबरी

हज़रत अली[अ०] से किसी ने पूछा कि अद्ल व इंसाफ़ (Justice) अच्छी चीज़ है या सख़ावत (Generosity)?

इमाम[अ०] ने कहाः

> अद्ल व इंसाफ़ अच्छी चीज़ है क्योंकि अद्ल व इंसाफ़ की वजह से हर चीज़ अपनी असली जगह पर पहुँच जाती है लेकिन सख़ावत की वजह से चीज़ें इधर से उधर हो जाती हैं।

इमाम[अ०] ने यह नहीं कहा कि अद्ल और इंसाफ़ इसलिए ज़्यादा अच्छा है क्योंकि इस से लोग एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं और उनमें कोई फ़र्क़ नहीं रहता बल्कि कहा कि अद्ल और इंसाफ़ इसलिए अच्छा है क्योंकि इस से हक़ (अधिकार) अपने मालिक तक पहुँच जाता है।

अमीरूल मोमिनीन[अ०] के इस जवाब के बाद वही दूसरा सवाल फिर उठ जाता है कि अब यह कैसे तय हो कि कौन किस चीज़ का हक़दार है और कौन सा हक़ किसका है?

समाज भी हमारे बदन की तरह होता है

समाज बिल्कुल हमारे बदन की तरह ही होता है। जिस तरह हमारे बदन में बहुत सारे हिस्से होते हैं और हर हिस्से का अपना एक ख़ास काम होता है उसी तरह समाज भी बहुत से लोगों से मिलकर बनता है और समाज को जिन कामों की ज़रूरत होती है उसे यही लोग अलग-अलग काम चुनकर पूरा करते हैं। हमारे बदन में भी हर हिस्सा सिर्फ़ अपना ख़ास काम ही करता है जैसे कोई आर्डर देता है तो कोई उस आर्डर को पूरा करता है या किसी हिस्से का दर्जा ऊँचा है तो किसी का नीचा, कोई बड़ा काम करता है तो कोई छोटा। समाज भी बिल्कुल इसी तरह है यानी कोई भी समाज हो और उसे

चाहे किसी भी हुकूमत या सिस्टम से चलाया जा रहा हो उस समाज में अपने आप लोगों के बीच ड्यूटी और काम-काज बंट जाते हैं जैसे कोई सिर्फ़ सोचने और पॉलीसी बनाने का काम करता है तो कोई उस पॉलीसी को लागू करने का, कोई हुकूमत की कुर्सी पर बैठा होता है तो कोई हुकूमत की पॉलिसियों को समाज में लागू कर रहा होता है, किसी के पास छोटा काम होता है तो किसी के पास बड़ा काम या ओहदा। समाज में रहना है तो फिर रास्ता यही है और इस से हटकर दूसरा कोई रास्ता नहीं है। समाज में कोई भी सिस्टम लागू हो उसमें इस तरह का तालमेल बहुत ज़रूरी है।

जिस तरह बदन बीमार या सेहतमंद होता है उसी तरह समाज भी बीमार या सेहतमंद होता है। जिस तरह आदमी पैदा होता है, बड़ा होता है, तरक़्क़ी करता है या नाकाम हो जाता है उसी तरह समाज भी बनता है, फैलता है, तरक़्क़ी करता है या नीचे की तरफ़ चला आता है। अगर बदन सेहतमंद हो तो बदन के हिस्सों में एक तरह की हमदर्दी व तालमेल पाया जाता है उसी तरह अगर समाज भी सेहतमेंद और समाजी रूह[1] वाला हो तो उसमें भी एक आपसी तालमेल पाया जाता है।

यह मिसाल ख़ुद रसूले इस्लाम[स०] ने दी हैः

> एक दूसरे के साथ हमदर्दी और मोहब्बत में ईमान लाने वाले बिल्कुल बदन की तरह होते हैं कि अगर किसी भी हिस्से में दर्द हो जाए तो बदन के सारे हिस्से एक-दूसरे को मदद के लिए बुलाने लगते हैं और तड़प उठते हैं।

आमतौर पर जब किसी चीज़ की मिसाल किसी चीज़ से दी जाती है तो उन दोनों की एक-दो या बहुत से बहुत तीन-चार बातें ही एक-दूसरे से मेल खाती हैं

---

[1] आत्मा

लेकिन बदन से समाज की मिसाल में कम से कम दस बातें ऐसी हैं जो एक–दूसरे से मेल खाती हैं।

यह भी ध्यान रहे कि अगर बदन और समाज में इतनी ज़्यादा बातें मिलती–जुलती हैं तो इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि समाज और बदन हर हिसाब से एक जैसे हैं क्योंकि कुछ चीज़ें ऐसी भी हैं जिनमें यह दोनों बिल्कुल अलग–अलग हैं।

हमारे बदन और समाज में फ़र्क़

समाज और इन्सानी बदन में एक फ़र्क़ यह है कि बदन का हर हिस्सा अपनी एक ख़ास जगह पर है, हर हिस्से का अपना काम भी तय है और जिस हिस्से का जो काम है या जो जगह है वह न कभी बदलती है और न बदली जा सकती है जैसे आँख, नाक, कान, हाथ–पैर वग़ैरा सब हमारे ही बदन के अलग–अलग हिस्से हैं मगर इन सब की अपनी–अपनी ख़ास जगह और काम तय है। आँख बस आँख रहती है और कान बस कान, कान का काम बस सुनना है और आँख का काम बस देखना है। इसी तरह हाथ हमेशा हाथ रहता है और पैर हमेशा पैर। ऐसा हो ही नहीं सकता कि एक दिन कान की ताक़त इतनी बढ़ जाए कि वह आँख का काम करने लगे और आँख से उसका काम छीनकर उसे कान वाला काम दे दिया जाए कि तुमने अपने काम को पूरा नहीं किया इसलिए अब तुम सुनने का काम करो या हाथ पैर का काम करने लगे और पैर हाथ का। इसी तरह दिल, जिगर, दिमाग़, फेफड़े, आँतें और बदन के दूसरे सारे हिस्से भी हैं। इन में से हर एक को बस एक ख़ास काम के लिए ही बनाया गया है और वह अपने उसी काम में लगा हुआ है। जो जिस काम के लिए बनाया गया है वह

बस वही काम कर सकता है, दूसरा कोई काम उससे हो ही नहीं सकता।

क्या समाज में भी ऐसे ही है? क्या समाज के हिस्से यानी समाज में रहने वाले लोग भी ऐसे ही हैं? क्या उनमें से भी हर एक को एक ख़ास काम के लिए बनाया गया है कि वह बस वही काम कर सकता है और उससे दूसरा कोई काम हो ही नहीं सकता? जिस तरह आँख, नाक, कान, दिल, दिमाग़ और हाथ-पैर का अपना-अपना एक ख़ास काम है, क्या उसी तरह समाज में रहने वाले लोगों का भी अपना-अपना काम तय है? क्या ऐसा है कि अगर कोई किसी काम को कर रहा है तो वह दूसरा कोई काम कर ही नहीं सकता? या ऐसा नहीं है?

ज़ाहिर सी बात है कि ऐसा नहीं है क्योंकि बदन के हिस्सों में से कोई भी अपना काम अपनी मर्ज़ी या अपने चुनाव से नहीं करता है। बदन के इन सारे हिस्सों का कंट्रोल रूह (आत्मा) के हाथ में होता है। जो रूह कहती जाती है वही यह हिस्से करते जाते हैं। अल्लाह ने जिस हिस्से को जिस काम के लिए बना दिया है उसे बस वही काम करना है लेकिन इन्सानों का समाज के साथ जो रिश्ता है वह ऐसा नहीं है। यह बात ठीक है कि समाज की भी अपनी रूह होती है लेकिन समाज की रूह का अपने हिस्सों यानी इन्सानों पर इतना ज़्यादा कंट्रोल नहीं होता जितना इन्सान की रूह का उसके बदन पर।

इन्सान समाज में रहने वाला जानदार है

उलमा और स्कॉलर्स बहुत पहले से कहते आ रहे हैं कि पैदाइशी तौर पर इन्सान समाजी है। बाद में आने वाले उलमा ने इस बात को ज़रा और खोलकर यह बताने की कोशिश की कि इस बात का आख़िर मतलब है क्या। अगर इस बात का मतलब यह है कि इन्सान

का पेड़–पौधों और जानवरों के साथ फ़र्क़ यह है कि इन्सान समाजी ज़िंदगी में रहकर ही फल–फूल सकता है और समाज में रहकर ही उसकी ज़रूरतें पूरी हो सकती हैं तो यह बात बिल्कुल सही है लेकिन अगर इस बात का मतलब यह है कि इन्सान की समाजी ज़िंदगी उसकी नेचुरल मजबूरी है यानी समाजी ज़िंदगी तो इन्सान के नेचर में शामिल है जिस पर इन्सान का कोई कंट्रोल नहीं है जैसे शहद की मक्खी या चींटियाँ जिनका अपना एक नेचर है और इसी नेचर पर शुरू से इनकी ज़िंदगी ऐसे ही चली आ रही है, इनकी भी अपनी एक समाजी ज़िंदगी है और उस ज़िंदगी में इन सबका अपना एक ख़ास काम है जो न कभी बदला है और न बदलेगा… अगर कहने का मतलब यह है तो यह बात ठीक नहीं है। इन्सान की समाजी ज़िंदगी इस तरह की नहीं है।

दूसरी तरह से यूँ कहा जाए कि इसमें कोई शक नहीं है कि इन्सान समाजी है और समाज में रहकर ही वह सही से फल–फूल सकता है और समाज में रहकर ही उसकी ज़रूरतें पूरी हो सकती हैं लेकिन यह सब कुछ उस के ऊपर पैदाइशी तौर पर थोप नहीं दिया गया है और न ही ऐसा है कि अगर वह चाहे तो अकेला रह ही नहीं सकता। अकेला रहना या समाज बनाकर रहना पूरी तरह से आदमी के कंट्रोल की चीज़ है। समाज में रहने का फ़ैसला ख़ुद आदमी का अपना फ़ैसला है क्योंकि इसी में उसका फ़ाएदा है। आदमी ने समाजी ज़िंदगी को अपनी समझ से चुना है।

एक बहुत बड़े सोशल स्कॉलर, राइटर व फ़िलॉस्फ़र Jean-Jacques *Rousseau* ने एक किताब *Discourse on the Origin and Basis of Inequality Among Men* लिखी थी जिसमें यही कहा था कि आदमी की समाजी ज़िंदगी उसके आपसी तालमेल से बनी है और ऐसा नहीं है कि यह ज़िंदगी नेचर ने उसके ऊपर थोप दी हो। रूसो ने जो थ्योरी दी है वह पूरी तरह से तो सही नहीं है लेकिन

उनकी यह बात बिल्कुल सही है कि इस समाजी ज़िंदगी के चुनाव में इन्सान का ही हाथ है।

बहरहाल जहाँ हमारे बदन और समाज में काफ़ी चीज़ें मिलती जुलती हैं वहीं इन दोनों में कुछ फ़र्क़ भी पाए जाते हैं जैसे बदन के हर हिस्से का अपना एक ख़ास काम है और हर हिस्सा अपने उसी काम में लगा हुआ है लेकिन इसके उलट समाज के हिस्से यानी समाज में रहने वाले लोगों में ऐसा नहीं है क्योंकि समाज में रहने वाले हर इन्सान को कोई भी काम या कोई भी मैदान चुनने की पूरी-पूरी छूट या पूरा-पूरा हक़ होता है और यह हक़ आदमी की अपनी सलाहियत (Quality) और अपनी क़ाबिलियत (Potential) की वजह से मिलता है। किस आदमी को क्या करना है, कौन सा काम-काज अपनाना है, कौन सी ज़िम्मेदारी लेना है या किस पोस्ट पर रहना है यह सब पैदाइशी तौर पर तय नहीं होता है यानी समाज में रहने के लिए पहले से इन्सान की कोई ज़िम्मेदारी या काम तय नहीं है। हर आदमी के सामने पूरा मैदान ख़ाली पड़ा है और वह जो काम चाहे अपने लिए चुन सकता है। इसीलिए समाज में रहने वाले लोगों के काम, ज़िम्मेदारियाँ और पोस्ट बदलती रहती हैं। नेचर ने किसी के भी माथे पर पहले से नहीं लिख दिया है कि तुम्हें बस यही काम करना है या यह ज़िम्मेदारी निभाना है। कहीं नहीं लिखा है कि चाहे कुछ भी हो जाए उस आदमी को टीचर बनना है, उसको डाक्टर बनना है, उसे किसान बनना है या उसे मज़दूरी करना है। लेकिन आदमी के बदन के हर हिस्से का काम पहले से तय है और उसे हमेशा वही काम करना है जो काम उसे दिया गया है।

यहाँ तक पहुँचने के बाद अब यह सवाल पैदा होता है कि ठीक है कि किसी भी आदमी का पहले से कोई काम तय नहीं है लेकिन जब काम बाँटने का वक़्त आएगा तो काम किस तरह बंटेंगे? कोई काम बड़ा होगा

तो कोई छोटा, कोई काम अच्छा होगा तो कोई बुरा, कोई काम ऊँचा होगा तो कोई नीचा जिससे लोगों के रहन-सहन और कामों में भी फ़र्क़ आ जाएगा।

आख़िर वह कौन सी कसौटी या फ़ार्मूला है जिसके ऊपर कामों को बाँटा जाए और समाज बनाया जाए? क्या ड्रॉ निकाल कर यह काम किया जा सकता है?

इसका बस एक ही रास्ता है और वह यह कि जिसको जो काम करना हो वह ख़ुद से उस काम को चुन ले और किसी पर भी किसी भी तरह की कोई ज़बरदस्ती न हो। किसी भी काम के चुनाव में सब आज़ाद हों। ज़िंदगी का मैदान मुक़ाबले का मैदान बन जाए जिसमें सब लोगों को भाग लेने का हक़ हो और जिसमें जितनी ताक़त व सलाहियत (Potential) हो वह उसी हिसाब से अपने लिए काम-काज या ड्युटी चुन ले।

जंग का मैदान

कुछ लोग ज़िंदगी को जंग का मैदान बताते हुए कहते हैं कि ज़िंदगी एक ऐसी जंग का मैदान है जहाँ हर एक अपने आप को बचाए रखने के लिए दूसरों से लड़ रहा है। लेकिन अगर जंग के मैदान के बजाए यह कहा जाए तो ज़्यादा अच्छा होगा कि ज़िंदगी का मैदान अपने आप को बचाए रखने के मुक़ाबले (Competetion) का मैदान है।

कुछ का मानना है कि ज़िंदगी जंग से हटकर कुछ और है ही नहीं। जो कुछ है वह एक-दूसरे से दुश्मनी और लड़ाई है। हमदर्दी, एक-दूसरे की मदद और मेल-मिलाप तो इसी जंग की वजह से अपने आप पैदा होने वाली एक चीज़ है जो ख़ुद से इन्सान के ऊपर लद जाती है।

अभी हमें इस बेहस में नहीं पड़ना है। कहना बस यह है कि ज़िंदगी जंग का मैदान नहीं है बल्कि यह एक मुक़ाबले का मैदान है जहाँ हर एक ख़ुद को बचाए रखने के लिए दूसरों से मुक़ाबला कर रहा है। अगर ज़िंदगी की गाड़ी को सही रास्ते पर चलाना है तो फिर यह मुक़बाला तो होना ही है। मुक़ाबला होगा तो फिर दो बातें ज़रूर होंगीः

एक आज़ादी,

दूसरे एक सिस्टम ताकि चीज़ें अपनी जगह पर रहें।

मान लीजिए कि कहीं कुश्ती या दौड़ने का मुक़ाबला हो रहा है। कोई मुक़ाबला होता है तो मेडल, इनाम या प्राइज़ भी दिया जाता है, लोग आते हैं और अपने-अपने मनपसंद ख़िलाड़ियों का साथ देते हैं और उनसे मोहब्बत भी दिखाते हैं। यह इनाम या मेडल उसी को मिलता है जो मुक़ाबले में दूसरे सारे खिलाड़ियों से आगे निकल जाता है। पैदा होते ही किसी के माथे पर नहीं लिखा होता है कि इस मेडल को लेने का हक़ बस इस बच्चे को है बल्कि मुक़ाबले में हिस्सा लेने का हक़ हर एक के पास होता है। जो लोग मुक़ाबले में आते हैं उनमें से जो मेहनत कर लेते हैं वह दूसरों को हराकर आगे निकल जाते हैं और जो हारते हैं वह भी अपनी कमज़ोरियों या मेहनत न करने की वजह से।

किसी क्लास में पढ़ने वाले बच्चे भी ऐसे ही हैं। एक साल तक सारे बच्चे पढ़ते हैं और साल के आख़िर में स्कूल की तरफ़ से उनका इम्तेहान लिया जाता है। इम्तेहान में भी वही बच्चे अच्छे नम्बर लेकर आते हैं जो साल भर मेहनत करते हैं। जो बच्चे मेहनत नहीं करते वह फ़ेल हो जाते हैं। जो बच्चा सब से ज़्यादा मेहनत करता है वह सब से अच्छे नम्बर ले लेता है और जो कम मेहनत करता है उसका नम्बर पहले वाले के बाद आता है और इसी तरह आख़िर तक चलता रहता है।

जैसा कि ऊपर भी कहा गया कि अगर समाज व हमारा बदन एक–दूसरे से मेल खाते हैं तो दूसरी तरफ़ से इन दानों में फ़र्क़ भी है और सब से बड़ा फ़र्क़ यही है कि समाज में लोगों की ज़िम्मेदारियाँ और उनके काम पहले से तय नहीं होते यानी ऐसा नहीं कि हर इन्सान का काम उसके पैदा होने के साथ ही तय हो जाता हो। ख़ुदा ने आदमी को आज़ाद पैदा किया है और उसे सिर्फ़ किसी एक काम के लिए बनाकर नहीं भेजा है। वह जो भी काम करना चाहे कर सकता है। उसके लिए पूरा मैदान खुला हुआ है और यह मैदान मुक़ाबले का मैदान है जिसमें जो ज़्यादा मेहनत व कोशिश करेगा वही मैदान जीतेगा।

वैसे इस बात का मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि किसी भी काम को करने के लिए हर आदमी के अंदर दूसरे सब लोगों के बराबर सलाहियत (Potential) पाई जाती है बल्कि हर आदमी के अंदर अलग तरह की एक ख़ास सलाहियत पाई जाती है। यही वजह है कि किसी आदमी के अंदर कोई एक काम करने का शौक़ पाया जाता है और किसी के अंदर दूसरा कोई काम करने की चाह है लेकिन ऐसा भी नहीं है कि हर इन्सान पहले ही से जान जाता हो कि उसे बस एक ख़ास काम के लिए पैदा किया गया है और उस काम को न वह छोड़ सकता है और न उसकी जगह कोई दूसरा काम कर सकता है लेकिन हमारे बदन के हिस्से ऐसे नहीं हैं बल्कि हर हिस्से का अपना एक ख़ास काम है जो वह मरते दम तक करता रहता है।

बहरहाल, समाज को एक मुक़ाबले का मैदान होना चाहिए जिसमें हिस्सा लेने का हक़ हर आदमी को हो और यह मुक़ाबला इतने सिस्टमेटिक तरीक़े से हो कि जो आदमी जितनी ज़्यादा सलाहियत व मेहनत वाला हो वह ख़ुद ही उभरकर सामने आ जाए।

मुक़ाबला

कोई भी मुक़ाबला हो उसमें दो चीज़ें ज़रूर होती हैः

एक तो ख़ुद वह चीज़ जिसके लिए मुक़ाबला हो रहा हो जैसे कुश्ती, दौड़ना या तैरना।

दूसरे मेडल, इनाम या प्राइज़ जो जीतने वालों को दिया जाता है।

समाज भी मुक़ाबले का एक मैदान ही है इसलिए यहाँ भी यह दोनों चीज़ पाई जाती हैंः

एक वह चीज़ जिसके लिए मुक़ाबला हो रहा है

दूसरी चीज़ इस मुक़ाबले से मिलने वाला फ़ाएदा।

अब सवाल यह है कि यह मुक़ाबला किस चीज़ के लिए हो और मिलने वाला इनाम क्या हो? यही वह सवाल है जिसका हमें जवाब मिल जाए तो मामला हल हो जाएगा।

ज़ाहिर है कि मुक़ाबला उन्हीं चीज़ों के बारे में होना चाहिए जो आदमी और समाज के लिए फ़ाएदेमंद हों, जिनसे लोगों के हालात अच्छे होते हों, जिनसे नॉलिज बढ़ती हो, जिनसे अच्छाईयाँ पैदा होती हों और बुराईयाँ दूर होती हों, जिनसे दीन की तरफ़ रूझान बढ़ता हो, जिनसे समझ बढ़ती हो और जिनसे नए–नए काम और नई–नई चीज़ें निकलकर सामने आती हों। इन मुक़ाबलों में जीतने वालों को जो इनाम दिया जाएगा वह भी ज़ाहिर है कि उनका हक़ होगा जो उनकी क़ाबिलियत व सलाहियत (Potential), नॉलिज और मेहनत के हिसाब से मिलेगा। अगर हम इन दोनों बातों को ख़ूब अच्छी तरह से समझ जाएं कि किन चीज़ों के बारे में मुक़ाबला होना है और इन मुक़ाबलों में जीतने वालों को क्या इनाम दिया जाना है तो सारा मामला अपने आप हाल हो जाएगा। फिर यह भी तय हो जाएगा कि किस चीज़ का इम्तेहान देना है, किस सब्जेक्ट को पढ़ना है, किस मैदान को चुनना है, किसको अच्छे नम्बर देना है,

किसको इनाम देना है और किसे इनाम नहीं देना है। सब कुछ समझ में आ जाएगा।

इस्लाम जो कहता है कि हक़ और ज़िम्मेदारी (Rights and Duties) जहाँ भी जाते हैं साथ-साथ जाते हैं, इस बात का मतलब यही है जो अभी ऊपर बयान हुआ है। हक़ जहाँ भी होगा उसके साथ-साथ कोई न कोई ज़िम्मेदारी और ड्युटी भी ज़रूर होगी। ऐसा हो ही नहीं सकता कि किसी हक़दार को उसका हक़ तो मिल जाए लेकिन कोई ज़िम्मेदारी उसके कंधों पर न आए।

समाज में होने वाले मुक़ाबले का मैदान भी और कुछ नहीं है बल्कि यही ज़िम्मेदारियाँ है। जो जितनी ड्युटी अपने कंधों पर उठा लेगा उसे उसी हिसाब से दूसरों से ज़्यादा नम्बर मिल जाएंगे।

कुरआन के सूरए नज्म की आयत/39 में अल्लाह हमें यही समझा रहा हैः

> इन्सान को सिर्फ़ उतना ही मिलेगा है जिनती उसने कोशिश की है।

कुरआन हमें यही बताना चाह रहा है कि यह समाज हमारे लिए मुक़ाबले का एक मैदान है। इस मैदान में जो जितनी मेहनत करेगा उसे उसी हिसाब से उसका हक़ मिलता जाएगा और उसका इनाम भी बढ़ता जाएगा। अगर हम इस बात को अच्छी तरह से समझ जाएं तो हम इस्लाम का एक बहुत बड़ा क़ानून भी समझ जाएंगे। फिर यह एक ऐसा चिराग़ होगा जो हमें जगह जगह रौशनी दिखाएगा जिससे बहुत से अंधेरे छट जाएंगे।

इंसाफ़ या बराबरी

यहीं से हमें अद्ल व इंसाफ़ (Justice) के मायनी भी समझ में आ जाते हैं और हमें उस सवाल का जवाब भी

मिल जाता है जो इस चैप्टर के शुरू में उठाया गया था। सवाल यह था कि अद्ल व इंसाफ़ किसे कहते हैं?

क्या समाज में लोगों के बीच पाए जाने वाले हर फ़र्क़ से इंसाफ़ ख़त्म हो जाता है?

क्या इंसाफ़ का यह मतलब है कि पूरे समाज में बराबरी हो और किसी भी तरह का कोई फ़र्क़ न हो?

या इसके उलट क्या ख़ुद इंसाफ़ की वजह से भी ऐसा होना ज़रूरी है कि लोगों के बीच फ़र्क़ होना चाहिए लेकिन यह फ़र्क़ बे वजह न हो बल्कि उसकी कोई न कोई सही वजह होना चाहिए?

और अगर यह दूसरी वाली बात सही है तो फिर सही-ग़लत की कसौटी क्या है?

यह कैसे तय होगा कि कहाँ किसको क्या मिलना है और कितना मिलना है?

इंसाफ़ का मतलब बराबरी तो है लेकिन यह बराबरी सिर्फ़ क़ाबिलियत (Potential), मेहनत और कोशिश की बुनियाद पर है यानी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि कोई अमीर का बच्चा है या ग़रीब का, काला है या गोरा, इस क़ौम का है या उस क़ौम का, सोर्स-सिफ़ारिश वाला है या नहीं, जज या टीचर से रिश्तेदारी है या किसी बड़े लीडर से गठजोड़... इन सब बातों से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। मुक़ाबला हो रहा है तो सब बराबर हैं। बाद में नम्बर भी दिए जाएंगे तो क़ाबिलियत व मेहनत को देखकर, न कि लोगों के चेहरों को देखकर और अगर ऐसा नहीं किया गया तो यह भी ज़ुल्म होगा और सब पर होगा।

यह है सही फ़र्क़ और ग़लत फ़र्क़ का मतलब। इंसाफ़ के बारे में कहा गया हैः

> इंसाफ़ यानी हर हक़दार तक उसका हक़ पहुँच जाए।

इस बात का मतलब वही है जो अभी ऊपर बताया गया है।

अमीरूल मोमिनीन हज़रत अली[अ०] ने भी इंसाफ़ का यही मतलब बताया हैः

> अद्ल व इंसाफ़ हर चीज़ को उसकी सही जगह पर रख देता है।

इमाम अली[अ०] ने यह नहीं कहा कि इंसाफ़ सब को बराबर कर देता है बल्कि कहा कि इंसाफ़ की वजह से हर चीज़ अपनी सही जगह पर पहुँच जाती है। यह वही बात है जो अभी ऊपर कही गई है कि अगर कोई मुक़ाबला हो रहा हो तो उस मुक़ाबले में आने वाले सभी लोगों को बराबरी से देखा जाए और उनमें किसी भी तरह का कोई भी फ़र्क़ न किया जाए यानी सब आएं और मुक़ाबले में भाग लें और फिर उनकी मेहनत व कोशिश के हिसाब से उन्हें नम्बर दिए जाएं।

रसूले इस्लाम[स०] ने फ़रमाया हैः

> लोग कंघे के दाँतों की तरह हैं और सब बराबर हैं।[1]

एक दूसरी जगह इस तरह फ़रमाया हैः

> तुम सब का पालने वाला एक है और तुम सब का बाप भी एक है। तुम सब आदम से हो और आदम मिट्टी से हैं। अरब या नॉन-अरब किसी में कोई फ़र्क़ नहीं है। अगर फ़र्क़ होता है तो सिर्फ़ तक़वा (Piousness) से।

यानी क़ौम, मुल्क, ज़बान, अमीरी-ग़रीबी, छोटा-बड़ा, काला-गोरा... किसी भी चीज़ से फ़र्क़ नहीं पड़ता। इन चीज़ों में सब बराबर हैं। फ़र्क़ पैदा होगा तो तक़वा बस (Piousness) से और जिसके पास जितना ज़्यादा तक़वा होगा वह उतने ही ऊँचे लेवल पर होगा।

क़ुरआने करीम ने भी जहाँ रंग, क़ौम और ख़ानदान के फ़र्क़ को ख़त्म किया है वहीं यह भी कहा हैः

---

[1] तोहफ़ुल उक़ूल/368

> ऐ इन्सानो! हम ने तुम को एक मर्द और एक औरत से पैदा किया है और फिर तुम में शाखाएं और क़बीले बना दिए हैं ताकि आपस में एक-दूसरे को पहचान सको। बेशक तुम में अल्लाह का सब से अच्छा बंदा वही है जो ज़्यादा तक़्वा वाला है।[1]

क़ुरआन ईमान लाने वालों और गुनाह करने वालों को एक जैसा बिल्कुल नहीं मानताः

> क्या हम ईमान लाने वालों और ज़मीन पर बुराईयाँ फैलाने वालों को एक जैसा मान लें या तक़्वा वालों को गुनाह करने वालों जैसा मान लें ?[2]

क़ुरआन ने एक दूसरी आयत में पढ़े-लिखे और अनपढ़ों के बारे में इस तरह फ़रमाया हैः

> क्या जानने वाले, न जानने वालों के बराबर हो सकते हैं? इस बात को सिर्फ़ समझदार लोग ही समझते हैं कि बराबर नहीं हैं।[3]

या यह आयतः

> अल्लाह ने अपने माल और जान से जिहाद करने वालों को घर में बैठे रहने वालों के मुक़ाबले में ऊँचा दर्जा व बदला दिया है।[4]

> क्या यही लोग ख़ुदा की रहमत को बाँट रहे हैं? जबकि हम ही ने इनके बीच अलग-अलग क़ाबिलियतें व सलाहियतें (Potentials)

---

[1] सूरए हुजरात/13
[2] सूरए साद/28
[3] सूरए जुमर/9
[4] सूरए निसा/95

> बाँटी हैं और कुछ को कुछ दूसरों से अच्छा बनाया है ताकि एक-दूसरे से काम ले सकें।[1]

इसी फ़र्क़ की वजह से ही कुछ लोग कुछ दूसरे लोगों से काम ले पाते हैं। यही समाजी ज़िंदगी का तरीक़ा भी है और इसी से समाज चल भी रहा है।

क़ाबिलियत व सलाहियत (Potential) के हिसाब से फ़र्क़

ख़ुदा की ताक़त का एक करिश्मा लोगों के बीच दिखने वाला नेचुरल फ़र्क़ भी है जिसका नतीजा यह है कि कोई किसी के मुक़ाबले में ताक़त वाला है तो किसी के मुक़ाबले में कमज़ोर और इस तरह सब को एक दूसरे की ज़रूरत है।

आज की माडर्न दुनिया चारों ओर इंसाफ़ और बराबरी के नारे लगा रही है। इन लोगों ने भी जितनी कोशिशें की हैं उसके हिसाब से भी अगर देखा जाए तो यहाँ भी फ़र्क़ दिखाई पड़ता है। इन लोगों ने भी मेहनत करने वालों और मेहनत न करने वालों, पढ़े-लिखों और अनपढ़ों, समझदारों और नासमझों, शरीफ़ों व धोखा देने वालों में इंसाफ़ व बराबरी के नाम पर फ़र्क़ रखा है। अगर यह फ़र्क़ न रखा जाता तो यह भी खुल्लम-खुल्ला ज़ुल्म हो जाता क्योंकि फ़र्क़ न हो तो फिर इंसाफ़ होगा ही नहीं।

---

[1] सूरए ज़ुख़रूफ़/32

सही बराबरी

सही बराबरी यह है कि बराबरी के वक़्त आदमी को बराबर से चाँस दिया जाए यानी मुक़ाबले का मैदान सबके लिए बराबर से खुला हो ताकि जिसमें भी हिम्मत हो वह अपनी मेहनत और कोशिश के बल पर अपना हक़ ले ले। अब जो भी पीछे रह जाएगा वह अपनी ही वजह से पीछे रहेगा और जो आगे निकल जाएगा वह भी अपनी मेहनत और कोशिश के बल पर ही आगे निकलेगा।

पढ़ने-पढ़ाने का चांस हर एक को बराबर से मिलना चाहिए, हर बच्चे को स्कूल जाने का हक़ होना चाहिए, अच्छी पढ़ाई का हक़ भी हर एक को मिलना चाहिए यानी ऐसा न हो कि कोई पढ़ ले और कोई पढ़ ही न सके, एक को अच्छी पढ़ाई का मौक़ा मिल जाए और दूसरा स्कूल ही न जा सके। यह बराबरी इस तरह से होना चाहिए कि अगर मुल्क के किसी कोने में किसी किसान का बच्चा भी पढ़ना चाहे तो आसानी से पढ़ ले और उसके अंदर मौजूद क़ाबिलियत (Potential) धीरे-धीरे निकलकर बाहर आ जाए और वह भी दूसरों की तरह समाज में एक अच्छा स्टेटस पा ले।

ग़लत फ़र्क़ यह है कि सब लोगों को बराबर से चांस न मिले यानी किसी के पास आगे तक जाने के लिए सारे रास्ते खुले हों और दूसरे के सारे रास्ते बंद हों। एक तरक़्क़ी की ऊँचाईयों पर पहुँच जाए और दूसरा नीचे खड़ा देखता ही रह जाए। एक नीचे रह जाने की वजह से ग़ुलाम बन जाए और दूसरे को निकम्मा होने मगर तरक़्क़ी कर जाने की वजह से हाथों-हाथ लिया जाए।

समाज को ऐसा नहीं होना चाहिए कि जब मुश्किलें और मुसीबतें आ जाएं बस तभी इल्म और एजुकेशन का एहसास हो। सच्चाई यह है कि इंसाफ़ व बराबरी से भरा

समाज ही सब को बराबरी से चांस दे सकता है यानी ऐसे समाज का अपने अंदर रहने वाले लोगों के साथ बिल्कुल वही बर्ताव (Behaviour) होता है जैसे किसी मुक़ाबले में भाग लेने वाले लोगों के साथ किया जाता है। ऐसे समाज में किसी गाँव से उठकर आगे आने वाला एक आम बच्चा भी तरक़्क़ी की ऊँचाईयों को छू लेता है। ऐसा समाज होगा तो फिर कोई जाहिल और नासमझ किसी मिनिस्ट्री का मंत्री नहीं बन पाएगा।

ऐसा समाज होगा तभी रसूले इस्लाम[स०] की यह हदीस समझ में आ सकेगी कि लोग कंघे के दाँतों की तरह हैं।

जब इस्लाम आया था, क्या उस वक़्त ऐसा समाज नहीं बन गया था? क्या उस वक़्त अब्दुल्लाह बिन मसऊद जैसे ग़ुलामों और उन ग़ुलामों के बेटे दूसरे बहुत से लोगों से आगे नहीं निकल गए थे? क्या अबू जहल, अबू लहब और वलीद बिन मुग़ीरा जैसे निकम्मों ने मुँह की नहीं खाई थी? क्या उस पीरियड में कमज़ोर, ग़रीब और ग़ुलाम अपनी क़ाबिलियत, मेहनत और अपने तक़वा की वजह से सरदार नहीं बना दिए गए थे?

जातिवाद से पाक इस्लामी समाज

सभी जानते हैं कि इस्लाम एक सोशल दीन है जिसने समाज को बहुत ऊँचा दर्जा दिया है। इन्सानों की मौत व ज़िंदगी की तरह वह समाज की मौत व ज़िंदगी को भी मानता है, समाज की कामयाबी व नाकामी को भी मानता है और इतना ही नहीं बल्कि इस्लाम में इन्सान से ऊँचा दर्जा समाज का है। अगर किसी का निजी फ़ाएदा किसी समाजी फ़ाएदे से टकरा जाए जो उसे समाजी फ़ाएदे के लिए अपने निजी फ़ाएदे को छोड़ना होगा। इस्लाम ने हर तरह की समाजी दर्जाबंदी, जातिवाद और समाजी फ़र्क़ को ख़त्म किया है। यह सब कुछ होते हुए

भी इस्लाम ने समाज में रहने वालों के किसी भी हक़ को अंदेखा नहीं किया है यानी ऐसा नहीं है कि अगर इस्लाम समाज को इतना ऊँचा दर्जा देता है तो उसने आदमी के किसी निजी हक़ को अंदेखा कर दिया हो। दुनिया के कुछ स्कालर्स की तरह इस्लाम ने यह एलान नहीं कर दिया है कि निजी तौर पर इन्सान कुछ भी नहीं है, जो कुछ है बस समाज है, अगर हक़ है तो बस समाज का और इन्सान का कोई हक़ नहीं है, समाज मालिक है न कि इन्सान या समाज असल है न कि इन्सान।

इस्लाम ने ऐसा कुछ नहीं कहा है बल्कि इन्सान और समाज दोनों पर ध्यान दिया है और जिसको जो हक़ व दर्जा मिलना चाहिए था वही दिया है। इस्लाम की नज़र में इंसाफ़ यह नहीं है कि समाज के होते हुए इन्सान को अंदेखा कर दिया जाए बल्कि इस्लाम का मानना है कि इंसाफ़ यह है कि समाज मुक़ाबले का एक मैदान बन जाए और इस मैदान में हर आदमी को हिस्सा लेने का हक़ हो। अपनी मेहनत, क़ाबिलियत और कोशिश के बल पर जो जितना आगे चाहे निकल सकता है और इसी वजह से उसका दर्जा और मुक़ाम तय होगा।

लेकिन इसके साथ-साथ यह बात भी बिल्कुल तय है कि इस्लाम ऐसे किसी भी दर्जे या फ़र्क़ को नहीं मानता है जो ख़ुदा के रास्ते में अमल, तक़वा, इल्म और जिहाद (Practice, Piousness, Knowledge & Jihad) की बुनियाद पर न हो। इस बारे में इस्लाम ने बहुत कड़ा हुक्म जारी क्या है बल्कि नबियों, रसूलों और इमामों की ज़िंदगियाँ भी इसका बेहतरीन नमूना रही हैं।

जोयबर व ज़ुलफ़ा

यमामा से एक आदमी मदीने आया और मुसलमान हो गया। इस्लाम भी लाया तो बड़े अच्छे ढंग से यानी

उसने ख़ूब अच्छी तरह से इस्लाम को समझा और एक सच्चा मुसलमान बन गया। उस आदमी का नाम जोयबर था। यह एक छोटे क़द का, भद्दा, काले रंग का और ग़रीब आदमी था। मदीने में कोई भी उसका रिश्तेदार नहीं था इसलिए वह मस्जिद में ही सो जाता था जैसे वही उसका घर हो। काफ़ी दिनों तक मस्जिद में रहता रहा। धीरे-धीरे उसके जैसे लोग उसके दोस्त बनते गए यानी कुछ दूसरे लोग भी मुसलमान हो गए जो जोयबर की तरह ही ग़रीब थे और दूसरी जगहों से आए थे। रसूले इस्लाम[स०] के कहने पर यह लोग भी जोयबर की तरह मस्जिद में ही सोते थे। धीरे-धीरे यह लोग अच्छे-ख़ासे हो गए। दूसरी तरफ़ से ख़ुदा का हुक्म आ गया कि मस्जिद सोने की जगह नहीं है इसलिए इसे ख़ाली करा लिया जाए। यहाँ तक कि हज़रत अली[अ०] और हज़रत फ़ातिमा[स०] के घर के दरवाज़े को छोड़कर जितने भी दरवाज़े मस्जिद में खुलते थे उन सब को बंद कराने का हुक्म आ गया यानी अपने घरों से मस्जिद में खुलने वाले दरवाज़ों से कोई भी मस्जिद में न आए बल्कि जिसको मस्जिद में आना हो वह मस्जिद के आम दरवाज़े से आए ताकि मस्जिद का एहतेराम (पवित्रता) बाक़ी रहे। अल्लाह का हुक्म आया तो रसूले इस्लाम[स०] के कहने पर वहीं पास में इन ग़रीबों के लिए ठट्टर डाल दिया गया और यह लोग वहीं रहने लगे। उस जगह का नाम *सुफ़्फ़ा* था जिसकी वजह से इन लोगों को *अस्हाबे सुफ़्फ़ा* (सुफ़्फ़ा वाले) कहा जाने लगा था।

जोयबर भी इन्हीं लोगों में से एक थे। रसूले इस्लाम[स०] और दूसरे मुसलमान उन से बहुत मोहब्बत करते थे और यही लोग उनकी ज़िंदगी की ज़रूरतों को भी पूरा किया करते थे। एक दिन रसूल ने जोयबर से कहा कि ऐ जोयबर! अगर तुम शादी कर लेते तो कितना अच्छा होता। तुम्हारी जिस्मानी ज़रूरत भी पूरी हो जाती और तुम्हारी बीवी इस दुनिया में और मरने के

बाद तुम्हारे काम भी आती। जोयबर ने कहा कि ऐ अल्लाह के रसूल! भला कोई लड़की मेरी बीवी कहाँ बनना चाहेगी? न मेरे पास पैसा है, न मेरा कोई ख़ानदान है और न मेरी सूरत ही अच्छी है। अल्लाह के रसूल ने फ़रमायाः

> ऐ जोयबर! ख़ुदा ने इस्लाम के हाथों बहुत से क़ानून बदल दिए हैं। जो चीज़ें पहले गिरी-पड़ी समझी जाती थीं उन्हें अब ऊँचा बना दिया गया है और जो चीज़ें बहुत ऊँची मानी जाती थीं उन्हें नीचे फैंक दिया है। बहुत से लोग पहले वाले ग़लत सिस्टम में बहुत इज़्ज़तदार समझे जाते थे लेकिन इस्लाम ने उन से इज़्ज़त छीन ली है लेकिन बहुत से ऐसे लोग भी थे जो पिछले सिस्टम में बहुत गिरे-पड़े समझे जाते थे लेकिन इस्लाम ने उन्हें इज़्ज़तदार बना दिया है।
>
> आज लोग उसी तरह पहचाने जाते हैं जैसे कि वह हैं। इस्लाम सबको बराबर से देखता है क्योंकि काले-गोरे, *क़ुरैशी* या *ग़ैर-क़ुरैशी* और अरब या नॉन-अरब सब आदम के बच्चे हैं और आदम को भी मिट्टी से ही बनाया गया था।
>
> ऐ जोयबर! ख़ुदा को सबसे ज़्यादा अपना वह बंदा पसंद है जो ख़ुदा के हुक्म पर चलने में दूसरों से आगे हो। अपने घर में रहने वाला और तुम्हारे बीच ज़िंदगी बिताने वाला कोई भी आदमी तुम से बड़ा नहीं है और अगर है तो सिर्फ़ अपने तक़वा की वजह से।

इसके बाद कहाः

> अभी उठो और ज़ियाद बिन लबीद अंसारी के घर जाओ! उससे कहना कि अल्लाह के रसूल

ने मुझे आपके पास भेजा है। मैं आपके पास आपकी बेटी ज़ुलफ़ा का हाथ मांगने आया हूँ।

रसूले इस्लाम[स०] का हुक्म मिलते ही जोयबर ज़ियाद बिन लबीद के घर पहुँच गए। ज़ियाद मदीने के बहुत इज़्ज़तदार और बड़े आदमी थे। जिस वक़्त जोयबर उनके यहाँ पहुँचे उस वक़्त वह अपने ख़ानदान के कुछ बड़े लोगों के साथ बैठे हुए थे। ज़ियाद को बताया गया कि जोयबर आया है तो उन्होंने जोयबर को अंदर बुला लिया। जोयबर अंदर जाकर बैठ गए और ज़ियाद की तरफ़ देखते हुए बोले कि मेरे पास आपके लिए अल्लाह के रसूल[स०] का एक मैसेज है। आप सबके सामने सुनना चाहेंगे या अकेले में? ज़ियाद ने कहा कि अल्लाह के रसूल[स०] का मैसेज तो मेरे लिए बड़ी ख़ुशी की बात है। इसलिए सबके सामने ही बताओ कि क्या बात है। जोयबर ने कहा कि अल्लाह के रसूल[स०] ने मुझे आपके पास भेजा है। मैं आपके पास आपकी बेटी ज़ुलफ़ा का हाथ मांगने आया हूँ। इस बारे में आपका क्या फ़ैसला है? मुझे अपना फ़ैसला बता दीजिए ताकि मैं जाकर अल्लाह के रसूल[स०] को बता दूँ। ज़ियाद ने बड़े ताज्जुब से पूछा कि क्या सच में अल्लाह के रसूल ने तुम्हें मेरे पास इसीलिए भेजा है? जोयबर ने कहा कि हाँ! बिल्कुल इसीलिए भेजा है। मैं अल्लाह के रसूल से कोई झूठी बात थोड़े ही जोड़ दूँगा। ज़ियाद ने कहा कि भाई! हमारे यहाँ लड़कियों की शादी किसी ऐसे आदमी से नहीं होती जो हमारे स्टेटस का न हो। तुम जाओ! मैं ख़ुद ही अल्लाह के रसूल से बात करूँगा।

जोयबर घर से निकल आए। अब उनके दिमाग़ में यह बात चल रही थी कि रसूले इस्लाम[स०] तो कह रहे थे कि इस्लाम ने जातिवाद का सारा फ़र्क़ मिटा दिया है लेकिन ज़ियाद तो एक दूसरी ही बात कह रहा है कि हमारे यहाँ हमारे ख़ानदान से कम लोगों में लड़कियों की शादी नहीं की जाती। जोयबर सोचने लगे कि इस

आदमी की बातें क़ुरआन से टकरा रही हैं। जोयबर रास्ता चलते जा रहे थे और उनकी ज़बान से लोग यह बातें सुनते जा रहे थेः ख़ुदा की क़सम! जो कुछ ज़ियाद ने कहा है वैसा कुछ भी क़ुरआन में नहीं है। अपने रसूल को अल्लाह ने इस तरह की बातों के लिए भेजा ही नहीं है।

जोयबर यह सब बड़बड़ाते हुए जा ही रहे थे कि रास्ते में ज़ियाद की बेटी ज़ुलफ़ा ने भी उनकी यह बात सुन ली। वह फ़ौरन अपने बाप के पास आई और उससे असल बात पूछने लगी कि क्या हुआ है? ज़ियाद ने जो कुछ हुआ था वह सब उसे बता दिया। ज़ुलफ़ा ने कहा कि ख़ुदा की क़सम! जोयबर झूठ नहीं बोल रहा है। ऐसा कोई काम मत कीजिए कि जोयबर अल्लाह के रसूल[स०] के पास पहुँच जाए और उन्हें सारी बात बता दे। जल्दी से किसी को भेजकर जोयबर को बुलवा लीजिए।

ज़ियाद ने फ़ौरन जोयबर को बुलवा लिया और ख़ुद ही अल्लाह के रसूल के पास जाकर कहा कि जोयबर आपकी तरफ़ से ऐसा-ऐसा मैसेज लेकर आया था लेकिन हमारे ख़ानदान में तो रस्म यह है कि हम अपनी लड़कियों की शादी सिर्फ़ अपने बराबर वाले ख़ानदान में ही करते हैं। रसूले इस्लाम[स०] ने कहा कि ऐ ज़ियाद! जोयबर मोमिन है और एक मोमिन मर्द दूसरी मोमिना औरत का कुफ़ो (बराबर) होता है। हर मुसलमान मर्द हर मुसलमान औरत का कुफ़ो है।[1] इस तरह की बातें करके अपनी लड़की की शादी मत रोको।

ज़ियाद ने वापस आकर सारी बात अपनी बेटी को बता दी। ज़ुलफ़ा ने कहा कि मुझे राज़ी हो जाना चाहिए और चूँकि रसूले इस्लाम[स०] ने जोयबर को भेजा है इसलिए मैं राज़ी हूँ। ज़ियाद ने जोयबर का हाथा थामा और अपने ख़ानदान वालों में ले जाकर उस काले व

---

[1] उसूले काफ़ी, 5/340

ग़रीब लड़के की शादी अपनी बेटी ज़ुलफ़ा से कर दी। जोयबर के पास तो घर था ही नहीं इसलिए ज़ियाद ने ही उसे घर भी दिया और घर का सारा सामान भी दिया। उसने अपनी लड़की को जहेज़ भी दिया और जहेज़ देकर उसे उसके शौहर के घर भेज दिया। दो जोड़ी कपड़े जोयबर के लिए भी भेज दिए। जैसे ही जोयबर ने अपने शादी वाले कमरे में क़दम रखा उसकी हालत यह सोचकर बिगड़ गई कि ख़ुदा ने उसे इस्लाम की वजह से कितनी ज़्यादा इज़्ज़त दी है। ख़ुदा के शुक्र की हालत उसके अंदर इतनी ज़्यादा पैदा हो गई कि उसने सारी रात कमरे के एक कोने में इबादत करते हुए बिता दी। अचानक उसे ध्यान आया कि सुबह होने वाली है। फ़ौरन उसने अल्लह के शुक्र के तौर पर अगले दिन के रोज़े की नियत कर ली और तीन दिन तक वह इसी हालत में रहा।

अब उसके बाद घर वाले परेशान हो गए थे कि कहीं ऐसा न हो कि जोयबर को बीवी की ज़रूरत ही न हो। जाकर सारी बात रसूले इस्लाम[स०] को बता दी। अल्लाह के रसूल ने जोयबर को बुलाकर उससे पूछा कि आख़िर बात क्या है। उसने कहा कि ऐ अल्लाह के रसूल! जैसे ही मैं अपने कमरे में गया तो मेरा कमरा ज़रूरत के हर सामान से सजा हुआ था और साथ में मेरी इतनी ख़ूबसूरत बीवी भी वहीं मौजूद थी। मैं सोचने लगा कि मैं तो इस शहर में एक बड़ा ग़रीब आदमी हूँ और ख़ुदा ने इस्लाम के नाम पर मेरे ऊपर इतना करम किया है। यही सोचकर मैंने सारी रात ख़ुदा के शुक्र में बिता दी। अगले दिन भी यही सोचकर रोज़ा रखा। तीन दिन तक मैं इसी तरह करता रहा कि रातों को शुक्र के तौर पर इबादत करता था और दिन में रोज़ा रखता था। लेकिन अब इसके बाद मैं अपनी आम ज़िंदगी की तरफ़ लौट आऊँगा और अपनी बीवी के साथ ही रहूँगा।

इस फ़र्क़ को मिटाने के लिए रसूल[स०] की कोशिशें

रसूले इस्लाम[स०] की ज़िंदगी पर अगर एक नज़र डाली जाए तो अपने आप समझ में आ जाता है कि अल्लाह के रसूल[स०] ने उस समाज में जड़ पकड़ चुके जातिवाद को ख़त्म करने के लिए भरसक कोशिशें की थीं। वह समाज क़बीलों वाला समाज था जिसमें लोगों के बीच हर तरह का फ़र्क़ पाया जाता था। रसूले इस्लाम[स०] की एक कोशिश यह भी थी कि वह लोगों के बीच जब बैठते थे तो एक गोला बनाकर बैठा करते थे। जहाँ रसूल बैठते थे वहाँ ऊँची-नीची कोई जगह नहीं थी। रसूले इस्लाम[स०] का हुक्म था कि अगर कोई हमारे साथ बैठना चाहता है तो उसे जहाँ जगह मिल जाए वहीं बैठ जाए और बैठने के लिए कोई ख़ास जगह न ढूंढे। ख़ुद रसूल भी जब आते थे तो उन्हें पसंद नहीं था कि कोई उनके लिए अपनी जगह से उठे। इसलिए किसी को भी अपनी वजह से खड़ा नहीं होने देते थे। अगर किसी सवारी पर सवार होकर कहीं जा रहे होते थे तो किसी को भी अपने साथ पैदल नहीं चलने देते थे या उससे कह देते थे कि तुम आगे-आगे चलो या हम से पीछे कुछ दूरी पर आओ। हमारे साथ मत चलो। रसूले इस्लाम[स०] कहीं भी ज़मीन पर ही बैठ जाते थे।

अब हो सकता है कि कोई कह दे कि अरे! यह तो रसूले इस्लाम[स०] का अपना अख़लाक़ (सदाचार) और उनकी शराफ़त थी। ज़ाहिर है कि इसमें कोई शक भी नहीं है कि अख़लाक़ में रसूल के जैसा कोई नहीं था। रसूल को हर वक़्त इस बात का ध्यान रहता था कि वह ख़ुदा के बन्दे हैं। ख़ुदा के सामने वह अपने आप को बहुत छोटा सा और कमज़ोर इन्सान मानते थे। ज़रा सोचिए कि ऐसा इन्सान अल्लाह के दूसरे बन्दों के साथ

कितना मेहरबान और मोहब्बत करने वाला होगा! रसूले इस्लाम[स०] की ज़िंदगी इस तरह की बातों से भरी पड़ी है।

एक औरत ने रसूले इस्लाम[स०] से कहा कि आप में सारी बातें अच्छी हैं लेकिन बस एक कमी है और वह यह कि आप बन-ठन कर नहीं रहते बल्कि दूसरों के जैसे ही एक आम ज़िंदगी बिताते हैं। ज़मीन पर कहीं भी बैठ जाते हैं और सब के साथ घुल-मिल जाते हैं। रसूले इस्लाम[स०] ने फ़रमायाः

क्या मुझ से भी बड़ा कोई अल्लाह का बन्दा है ?[1]

बेशक रसूले इस्लाम[स०] की इतनी आम ज़िंदगी हमें उनके अच्छे अख़लाक़ (सदाचार) का ही पता देती है लेकिन इस बात के भी बहुत से सुबूत मौजूद हैं जिनसे यह साबित होता है कि रसूले इस्लाम[स०] अपने इन कामों और अपनी इन बातों से समाज को भी बदलना चाहते थे। वह जानते थे कि पैसे वालों की इज़्ज़त, उनको झुक-झुक कर सलाम करना और उनको बड़े-बड़े नामों से पुकारना यूँ तो बहुत छोटी सी बात दिखाई देती है लेकिन यही चीज़ आम लोगों और ख़ास लोगों के बीच एक बहुत बड़ी दीवार खड़ी कर देती हैं। यही दीवार लोगों के दिलों को एक-दूसरे से दूर कर देती है।

यही वह बातें हैं जिनकी वजह से समाज में ऊँच-नीच, जातिवाद, जात-पात, अमीर-ग़रीब जैसे फ़र्क़ पैदा हो जाते हैं। यही वह बातें हैं जो दिखने में तो बहुत छोटी होती हैं लेकिन यही बातें समाज को दो हिस्सों में बांट देती हैं। यही वह बातें हैं जो समाज के बहुत से टुकड़े करने और उसे बांटने में पहली ईंट का काम करती हैं।

एक बार रसूले इस्लाम[स०] अपने साथियों के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में कहीं रूके और सब अपनी-अपनी सवारियों से नीचे उतर आए। तय पाया कि एक भेड़

---

[1] मकारिमुल अख़्लाक़/16

काटकर खाना तैयार किया जाए। एक साथी ने कहा कि भेड़ का सर मैं काटूँगा। दूसरे ने कहा कि खाल उतारना मेरा काम है। तीसरे ने कहा कि गोश्त पकाना मेरी ड्युटी है। इसके बाद रसूले इस्लाम[स०] ने कहा कि जंगल से लकड़ियाँ मैं लेकर आऊँगा। साथियों ने कहा कि ऐ अल्लाह के रसूल! आप क्यों परेशान होते हैं? आप यहीं बैठे रहिए। हम लोग सारे काम कर लेंगे और ख़ुशी-ख़ुशी करेंगे। रसूले इस्लाम[स०] ने फ़रमाया कि मुझे पता है कि तुम लोग सारे काम कर लोगे लेकिन अल्लाह को यह बात पसंद नहीं है कि कोई आदमी अपने साथियों के बीच ख़ुद को उन से अलग समझता हो।[1]

रसूले इस्लाम[स०] और दूसरे इमामों की ज़िंदगियों में इस तरह की बहुत सी बातें आसानी से मिल जाती हैं जिससे यह बात अपने आप साबित हो जाती है कि वह लोग समाज से इस तरह की सारी आदतों और बातों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे क्योंकि यह बातें दिखने में तो बहुत छोटी होती हैं लेकिन यही बातें बहुत बड़ी-बड़ी मुसीबतों की जड़ बन जाती हैं।

आख़िरी बात

यहाँ तक की बात का मतलब यह है कि असल में इंसाफ़ और बराबरी यह है कि समाज में आदतों, रस्मों या किसी भी ज़ुल्म की वजह से पनपने वाला हर तरह का जातिवाद, जात-पात, ऊँच-नीच और फ़र्क़ जड़ से मिट जाए लेकिन वह फ़र्क़ जो मेहनत, कोशिश और क़ाबिलियत से पैदा होता है वह मुक़ाबले के मैदान में बाक़ी रहना चाहिए ताकि सबको बराबर से चांस मिलते रहें।

---

[1] कोह-लुल ब-सर/68